हिन्दी-गौरव-ग्रन्थ-माला — २८ वाँ ग्रन्थ

# अन्तर्नाद

( गद्य काव्य )

प्रणेता

वियोगी हरि

प्रकाशक

साहित्य-भवन लिमिटेड,

प्रयाग

तृतीयावृत्ति ] संवत् १९९३ [ मूल्य ।।।)

प्रकाशक:—
साहित्य-भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद।

मुद्रक:—
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

श्रीगुरु-पाद-पद्मेषु

# प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में सब मिलाकर चालीस छोटे-बड़े निबन्ध आये हैं, जिन्हें मैंने, विषय-विभाग के अनुसार, निम्न लिखित चार खण्डों में विभक्त कर दिया है--

१—सत्यं, शिवं, सुन्दरं,

२—उद्‌बोध,

३—अग्नि-उद्‌गार,

४—उद्धार।

इस पुस्तक का अधिकांश हिन्दी की लब्ध-प्रतिष्ठ पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुका है; कुछ निबन्ध 'प्रभा' और कुछ 'सम्मेलन-पत्रिका' में भी छपे हैं। सात-आठ नये जोड़ दिये गये हैं। जिन पत्रिकाओं ने 'अन्तर्नाद' को अपना बहुमूल्य स्थान प्रदान किया है, उनका मैं, इस कृपा के लिए, सदा कृतज्ञ रहूँगा।

यह कहने का तो मैं अधिकारी हूँ नहीं कि मेरा यह अन्तर्नाद' किसी सहृदय के सरस हृदय पर अपना यत्किन्चित कोमल, सुखद और सजीव आघात कर सकेगा, पर इतना कहने की धृष्टता अवश्य करूँगा कि मेरी जर्ज्जरित हृतंत्री के टूटे और उतरे हुए तारों के स्वर में यदा-कदा जो यह नाद ध्वनित हुआ करता है उससे मुझे निस्सन्देह आह्लाद प्राप्त होता है। अतएव इसे 'स्वान्तःसुखाय' प्रयास ही समझिये। इस प्रयास द्वारा प्रेमी पाठकों को भी कुछ लाभ पहुँचा, तो मैं अपने को अधिक कृतार्थ मानूँगा।

प्रयाग,<br>श्रीकृष्ण-जन्माष्टी,<br>संवत् १९८३

विनीत<br>वियोगी हरि

सत्यं,
शिवं,
सुन्दरम्.

# प्रार्थना

अतुल शक्तिधर ! मुझे भी वह शक्ति दे, जिससे जन्मजात अधिकारों की रक्षा करता हुआ इन तुच्छ प्राणों की भेंट तेरे चरणों पर चढ़ा सकूँ ।

भावगम्य ! वह भावुकता भर दे, जिससे यह स्वार्थपूर्ण, संकीर्ण, नीरस और मायिक हृदय निःस्वार्थ, विस्तीर्ण, सरस और आध्यात्मिक हो जाय ।

अखिल बोधेश्वर ! वह बोध दे, जिससे सत्-असत् का निर्णय कर नरकोपम संसार को स्वर्ग में परिणत कर सकूँ ।

सर्व समर्थ ! वह सामर्थ्य दे, जिसे पाकर पद-दलित तथा पीड़ित जनता की अहोरात्र निष्काम सेवा करता रहूँ ।

परमेश ! वह ईशत्व दे, जिसके द्वारा प्रेय और श्रेय में साम्य स्थापित कर सद्धर्म का साक्षात् कर सकूँ ।

ज्योतिष्मन् ! इन निष्प्रभ नेत्रों में वह ज्योति जगा दे, जिस में तेरे दिव्यालोक का प्रतिबिम्ब पड़ता हो ।

जगदाधार ! वह आधार दे, जिससे यह निराधार जीवन तेरी अकुतोभय शरण पाकर 'ब्राह्मी स्थिति' की पात्रता प्राप्त कर सके ।

# मन्दिर-द्वार

भला, यह भी कोई आराधना की वेला है ! उपासक कभी के चले गये। पुजारी भी द्वार बन्द करके जा रहा है। पर तू फूलों की डलिया लिये अब आयी है ?

जान पड़ता है, यहाँ तू पहली ही बार आयी है। यहाँ की भयङ्करता तुझे प्रकट नहीं। इस घड़ी यहाँ कौन पैर रखने का दुस्साहस करेगा ? कैसा भीषण स्थान है ! चारों ओर पहाड़-ही-पहाड़ देख पड़ते हैं। उनके निस्पन्द काले शिखर, न जाने क्यों, सजल नेत्र तारों की ओर टक लगाये खड़े हैं। दूर तक न कोई जीव है, न जन्तु। रात साँय-साँय बोल रही है। सामने यह जल-प्रपात शिला-खण्डों के वक्षस्थल पर झर-झर शब्द कर रहा है। पता नहीं, मन्दिर के आगे कितना गहरा पानी है ! कहते हैं, यह स्थान प्राणान्तक है। इस अर्द्धचन्द्राकार प्रपात की अनन्त जल-राशि से जो नदी बनी है वह बड़ी ही भीषण है। उसके आवर्त्तों में कई नौकाएँ चक्कर खा कर डूब चुकी हैं। फिर तू ने इस सन्नाटे के समय कैसे नदी को पार किया ? किस माझी ने तुझे पार उतारा ? ऐं ! तू तैर कर आयी है ! धन्य यह साहस ! शरीर शीत के मारे थरथर काँप रहा है। पैर ठिठुर गये हैं। प्रभात की धूम्र-सदृश झीनी-झीनी बूँदों ने आँखों को सुन्न कर दिया है। केश खुलकर हाथों में उलझ गये हैं। यह

फूलों की डलिया, न जाने कैसे, यहाँ तक अक्षत आ सकी है। इस आराधना में क्या रहस्य है, वनदेवी !

यह कैसी आराधना है ! द्वार पर, पाषाण-मूर्ति की तरह निश्चल खड़ी हुई, तू क्या कर रही है ? तेरी अधमुँदी आँखों पर सुमन-सौरभित सुकुमार समीर कब से निश्शब्द स्पर्श कर रहा है ! विभावरी की अन्तर्नादिनी वीणा से प्रकम्पित स्वर-लहरी कब से तेरे सरल अधरों पर थिरक रही है ! उन्मत्त रसाल-मञ्जरियाँ कब से तेरे उत्कण्ठित हृदय की भावनाओं के साथ अठखेलियाँ कर रही हैं ! तुझे इस सबका ध्यान भी नहीं ? धन्य है तेरी एकाग्रता ! धन्य है तेरी तल्लीनता !

तूने तो सारी फूल-मालाएँ मन्दिर के द्वार पर लटका दी हैं। फूल भी धरती पर छितरा दिये हैं। अब देवता पर क्या चढ़ायगी ? अच्छी अर्चना की ! देवी, इस अलौकिक आराधना का विधान क्या मुझे समझायगी ?

उस शुक्लवसना वनदेवी से मैंने बहुत-कुछ पूछा, पर वह एक भी शब्द न बोली। देखते-देखते, थोड़ी देर में वह एक प्रकाश में विलीन हो गयी !

यह बात एक वर्ष की है। उसकी आराधना का रहस्य जानने के लिए मैं तभी से अधीर हूँ। वनदेवी प्रायः आधीरात को उस मन्दिर में उसी प्रकार की आराधना करने आती है। विधान भी वही है—द्वार पर मालाओं का लटकाना और धरती पर फूलों का छितराना ! अब मैं उसकी आराधना छिप कर

देखा करता हूँ।

जान पड़ता है, उस दिव्य देवी का प्रयास निष्फल नहीं जाता। उस अर्चा में अवश्य ही कोई-न-कोई रहस्य अन्तर्हित है। जब वह अन्तर्धान होने लगती है, तब समस्त आकाश-मण्डल रक्ताभा से परिपूरित हो जाता है। धरती पर बिखरे हुए फूल उड़-उड़ कर उसके विलम्बित मुक्त केशों में गुँथ जाते हैं। मालाएँ उसके हृदय पर लहराने लगती हैं। उस समय उन फूलों का सुगन्ध कुछ और ही हो जाता है। वह दृश्य अपूर्व होता है। उसके बड़े-बड़े नेत्रों से अश्रु-बिन्दु टपकने लगते हैं। मुख मुकुलित हो जाता है। और सुकुमार उँगलियाँ ऊपर को उठ कर उलझने-सी लगती हैं। इसी तरह वह अनन्त आकाश की ओर देखती हुई उस दिगन्त व्यापिनी रक्ताभा में विलीन हुआ करती है।

मैंने उसकी आराधना का रहस्य अनेक उपासकों से पूछा, पर आज तक किसी ने मेरी जिज्ञासा का यथेष्ट समाधान नहीं किया। आत्मा तो यह कहती है, कि उस देवी के अभिमुख मंदिर का जगदाराध्य देव द्वार खोल कर आया करता है और उपासिका का, अपने हाथों से, शृङ्गार करके फिर मन्दिर में चला जाता है। उस वन-देवी को उसने, अपनी पवित्र प्रेम-भावना की प्रतिमूर्ति बनाकर, अपने अन्तस्तल में स्थान दे रखा है।

इसी को 'परा पूजा' कहते हैं।

# प्रतीक्षा

कब की खड़ी हूँ, प्रियतम! पुकारते-पुकारते थक गयी, जीभ में छाले पड़ गये, पर तुम न आये!

इस विजन वन में अकेली मैं ही हूँ। चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छा रहा है। तरंगिणी का कलकल रव भी मन्द पड़ता जाता है। जान पड़ता है, हवा भी अपनी अठखेलियाँ बन्द कर सोने जा रही है। सामने के काले भयावने गिरि-शिखरों की ओर तो आँख खोल कर देखा भी नहीं जाता। बड़ी सनसनाहट है। पेड़ों पर बसेरा लेनेवाली चिड़ियों के परों की फड़फड़ाहट ही, रुक-रुक कर, इस घोर सन्नाटे को चीरती है। इसी से थोड़ा-बहुत धीरज बँधा है। नाथ! अंचल से ढका हुआ यह निस्नेह दीपक कबतक टिमटिमायगा?

पैर काँप रहे हैं। हृदय धक-धक कर रहा है। पलकें भी भारी होती जाती हैं। शरीर पसीज उठा है। गला रुँध आया है। बड़ी घबराहट मालूम होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ? न खड़ा ही रहा जाता है, न लौटते ही बनता है। लौटूँ भी, तो कहाँ, किस ओर? अब न मेरा कहीं घर है, न द्वार। न सखी है, न सहेली। न सजन है, न परिजन। न कुल है, न कानि। फिर किधर जाऊँ, कहाँ रहूँ? पूरब-पच्छिम का भी तो ज्ञान नहीं। नाथ! तुम्हारे मन में आख़िर है क्या? यह

देखो, दीपक भी बुझा चाहता है।

क्या यह शिला, जिस पर मैं खड़ी तुम्हारी बाट जोह रही हूँ, मोम की तो नहीं है? यदि नहीं, तो पिघलती क्यों जाती है? तारे क्यों रो रहे हैं? कौन कहता है, कि पत्तियों पर ओस की बूँदें झिलमिला रही हैं। यह तो इन्हीं तड़पते तारों के आँसू हैं। काली साड़ी पहने यह अँधेरी रात मुझ निराशा में डूबी अभागिनी का दुख बटाने आयी है। देखूँ, बेचारी कबतक साथ देती है! स्नेहमयी प्रकृति का हृदय सचमुच ही बड़ा कोमल है। यह इतनी दया न दिखाती तो मैं किसके आगे अपना रोना रोती? पर तुम्हें तनिक भी दया न आयी, कठोर हृदय!

यह प्रतीक्षा है, या परीक्षा? प्रतीक्षा ही है, परीक्षा किस बात की होगी? तुम अनन्त, तुम्हारी प्रतीक्षा भी अनन्त! ठीक है न? कुछ तो कहो। किससे बात कर रही हूँ? क्या तुम सुनते हो? यदि हाँ; तो अपनी मोहनी झलक क्यों नहीं दिखाते, मोहन!

लो, दीपक गया! आशा भी गयी। अब भी दौड़ आओ, प्रियतम! देर करने से प्राण-पखेरू भी उड़ जायँगे, प्राणेश!

# कालिन्दी-कूल

खड़े-खड़े आधी रात बीत गयी। चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छा रहा है। ऊपर काली घन-घटा है, नीचे कालिन्दी का श्याम प्रवाह! कहीं कुछ सूझता तक नहीं। तारे भी नहीं झिलमिलाते। बड़ा विकट सन्नाटा है। रात सायँ-सायँ बोल रही है। कैसा भायँ-भायँ लगता है! रह-रह कर यमुना की विक्षिप्त लहरें हृदय को और भी हिला देती हैं। बड़ा भयावना दृश्य है! अकेली खड़ी-खड़ी क्या करूँ?

सखी-सहेलियाँ छोड़ कर क्यों यहाँ अकेली ही चली आयी? न जाने, मुझे यहाँ कौन खींच लाया? खड़ी-खड़ी किसकी बाट जोह रही हूँ? किस उलझन में पड़ी हूँ? कुछ समझ में नहीं आता। कैसे धीरज धरूँ! पैर थर-थर काँपते हैं। आँखें तिलमिला रही हैं। घड़ा व्यर्थ ही भर कर सिर पर लाद लिया। अब गिरा ही चाहता है। कैसे सँभालूँ?

दिया भी क्या बुझ जायगा? इस तेज़ आँधी में, अञ्चल की ओट में, कबतक ठहरेगा! कौन जानता है, कब बुझ जाय! और तेल भी तो चुक गया है। क्या वश? किसे मालूम था, कि मुझ अभागिनी के साथ ऐसी प्रवंचना की जायगी। मैं तो यही समझ कर दौड़ी थी कि कालिन्दी-तट पर वह मर्मभरी रागिनी सुनने को मिलेगी, जिसने मेरे कल्पना-भवन में 'सत्यं शिवं

सुन्दरं' की स्वर-लहरी प्रतिध्वनित की थी। पर सब धोखा ही निकला! वेदान्तियों ने कदाचित् इसी अभितृष्णा को 'मृग-जल' कहा है।

एक बार और वह उन्माद-आमोदिता रागिनी सुनी थी। उस दिन भी वह मुझ मुग्धा मृगी के अन्स्तल में बाण-सी बिंध गयी थी। पर, तब इस तरह घर-बार छोड़ कर भागी नहीं थी। वहीं जी मसोस कर रह गयी थी। आज की भाँति उस दिन दौड़ी नहीं। आज की दशा तो कुछ विचित्र ही हुई। घरवालों के रोकते-रोकते भी घड़ा ले इधर चल पड़ी। भला, यह भी कोई पानी भरने का समय है! सखी-सहेलियों की ओर देखा तक नहीं। करील की कँटीली डालों में वस्त्र उलझ जाने तक का तो ध्यान नहीं रहा। फूल-माला तो, न जाने कहाँ टूट-टाट कर गिर गयी। आँखें अपनी होतीं तो कुछ देखतीं। सुध तो तन तक की न थी; वस्त्राभूषण कौन सँभालता?

आखिर, वह रागिनी हुई क्या? अलापनेवाला कहाँ गया? कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ? सोचा था, कि उस रागिनी की धवल धारा से अंतःकरण पखारूँगी, गायक को देख कर यह निस्तेज दृष्टि सौन्दर्य-सुधा से अनुप्राणित करूँगी। पर यह कुछ न हुआ। सुना क्या—उत्कण्ठित हृदय की धीमी प्रकम्पन-ध्वनि! देखा क्या—अदृष्ट का धुँधला मानचित्र! जान पड़ता है, यह विश्वव्यापी अन्धकार मेरी ही निराशा का काला प्रति-बिम्ब है। तो क्या वह मोहिनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त

अन्तर्नाद् की प्रतिध्वनि थी ? राम जाने, क्या था !

लो, दीपक भी गया ! रहा-सहा धीरज था, वह भी गया। अब देखूँ, इस अनन्त शून्य-पट्ट पर मेरे रहस्य के अस्तित्व की क्षीण रेखा कब तक खचित रहती है।

# सावधान !

सावधान ! योंही न हाथ डाल देना ! वह एक अछूता कटोरा है। उसे वसंत के सरस सुमृदु समीर ने उल्लसित कुसुम-कलियों से रस ले-ले कर भरा है। रसिक मधुकर उस पर मँड़राता ही है, ओठ लगाने का वह भी साहस नहीं करता। फिर तू क्यों उसमें अपना कोयले से रँगा काला-कलूटा हाथ डाले देता है ! क्या तू उस रस का निर्दयता और नीरसता के साथ उपभोग कर उसे अक्षुण्ण नहीं रखना चाहता ?

सावधान ! योंही न बिखेर देना ! वह एक अछूती डलिया है। उसमें भगवती उषा ने, अपने सौभाग्य-शृङ्गार के लिये, नन्दन वन से एक-एक सौरभित सुमन चुन-चुन कर रखा है। पुलकित पवन उस सुमन-चय का धीरे से चुम्बन ही करता है, उलझी हुई उँगलियों से छूने का वह भी साहस नहीं करता। फिर तू क्यों उन्हें अपने कलुषित कठोर हाथों से बिखेरे देता है ? क्या तू निर्दयता और नीरसता के साथ उन फूलों का उपभोग कर उन्हें अक्षुण्ण नहीं रखना चाहता ?

सावधान ! योंही न खोल देना ! वह एक अछूती पिटारी है। उसमें प्रकृतिसुन्दरी ने अर्द्धविकसित लावण्य-कलिका को, चाँदनी की धवल धारा से पखार-पखार, संपुटित कर रखा है। अनुराग-रंजिता किशोरावस्था उस पर धीरे से उन्माद-रस का

छिड़काव ही करती है, उसे उलटने-पलटने का वह भी साहस नहीं करती। फिर तू क्यों अपने सतृष्ण लोलुप नेत्रों से देखने के लिये, अधीर हो, उस पिटारी को खोले देता है? क्या तू उस लावण्य-कलिका का निर्दयता और नीरसता के साथ उपभोग कर उसे अक्षुण्ण नहीं रखना चाहता?

सावधान! योंही न छेड़ देना! वह एक अछूती वीणा है। उस पर वाग्देवी ने एक-एक तार अपने निगूढ़ अन्तर्नाद के द्वारा प्रतिष्ठित कर चढ़ाया है। अन्त:करण में प्रतिध्वनित स्वर-लहरी उसके तरल तारों का, एक भीनी झनकार के साथ, स्निग्ध आलिङ्गन ही करती है, उन पर कठोर आघात पहुँचाने का वह भी साहस नहीं करती। फिर तू क्यों उस अन्तस्तल-नादिनी वीणा को अपनी टेढ़ी-मेढ़ी मोटी-मोटी उँगलियों से छेड़े देता है? क्या तू उसके नाद का निर्दयता और नीरसता के साथ उपभोग कर उसे अक्षुण्ण नहीं रखना चाहता?

सावधान! योंही न पैर रख देना! वह एक अछूता आसन है। उसे प्रकृति देवी ने अरुणोदय के हलके रँग में रँग कर, ओस की बूँदों के साथ कल्लोल करते हुए सुकुमार पल्लवों पर, बिछाया है। अधीर भावना उस पर धीरे से बैठ कर साधना ही करती है, कामना-कलुषित पैरों से उसे प्रताड़ित करने का वह भी साहस नहीं करती। फिर तू क्यों उस सत्यालोक से आलोकित शुभ्र आसन को कुचलने के लिये उसपर अपने पाप-पंकिल अपवित्र पैर रखे देता है? क्या तू उसकी स्वच्छता का

निर्दयता और नीरसता के साथ उपभोग कर उसे अक्षुण्ण नहीं रखना चाहता ?

सावधान ! योंही न जाने देना ! वह एक अछूता पाहुना है। उसे हमने अपने अर्द्धोन्मीलित पलकों पर प्यार कर-कर सुलाया है। हमारा उद्भ्रान्त भाव अपने प्रेमाश्रु-जल से उसके परिश्रान्त पाद-पल्लवों का पखारना ही अपना सौभाग्य समझता है, उसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखने का वह भी साहस नहीं करता। फिर तू क्यों उस प्यारे पाहुने को, बिना ही उसका कुछ आतिथ्य किये, जाने देता है ? क्या तू उसके स्वागत के सौभाग्य का निर्दयता और नीरसता के साथ उपभोग कर उसे अक्षुण्ण नहीं रखना चाहता ?

# अतिथि

द्वार खोलो, अन्तर्यामिन्! यह बेचारा, हाय! कब से तुम्हारा द्वार खटखटा रहा है!

यह कोई पथिक है; और काले कोसों से दौड़ा आ रहा है। चलते-चलते पैर सूज गये हैं; तलुवों में छाले भी पड़ गये हैं। न जाने, यहाँ तक कैसे पहुँचा! देखते नहीं, बिलकुल शिथिल पड़ गया है! बोलने तक की शक्ति नहीं। ओठों पर पपड़ी पड़ गयी है। प्यास के मारे जीभ तालू से लग गयी है। अरे, कितना कृश है! कंकाल-मात्र शेष है। किसी प्रणय-आशा ने ही इसे अबतक सप्राण रखा है। नाथ! द्वार खोलो और इसकी सँभाल करो।

क्या कहा, कि किस काम से आया है? केवल तुम्हारी झलक लेने—और कोई काम नहीं। बड़ा भोला है। कहता है, मैं अपने पैरों थोड़े ही आया। न जाने, कौन यहाँ तक खींच लाया! सुना है, कि एक रात इसने तुम्हारी प्यारी सूरत सपने में देखी थी। जागते ही बावला हो गया। एक फटा-पुराना कंबल लपेटे तुम्हारी टोह में चल पड़ा। तुम लापता तो रहते ही हो। इससे बेचारा, न जाने कहाँ-कहाँ, ख़ाक छानता मारा-मारा फिरा। इतने दिनों बाद आज कहीं इस भूले-भटके योगी को तुम्हारा पता चला है। सो, द्वार

खोल कर बाहर पधारो, प्राणाधार ! निठुर न बनो, भक्त-वत्सल !

टुक आओ तो। बैठना मत; एक ही झलक दिखा कर चले जाना। सकुचते हो क्या ? या डरते हो ? तुम्हें यह बाँध कर क़ैद थोड़े ही कर लेगा। सर्वशक्तिमान् हो कर एक निर्बल का भी सामना नहीं कर सकते ! तुम्हारी पहेली तुम्हीं जानो। हम तो इतना ही कहते हैं कि द्वार खोल दो; पीछे जो तुम्हारे मन में हो, करना।

इसे देख कर तुम्हें अवश्य ही तरस आ जायगा। इस निराश्रय का आज कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं। जो कुछ है, सो तुम्हारा द्वार। यहीं धूनी रमा कर डटेगा। यहाँ से टस से मस होने का नहीं। बड़ा हठीला है। इसे कह सकते हैं लगन पर मर-मिटनेवाला। बड़ी-बड़ी अधमुँदी आँखों से स्नेह-रस छलका पड़ता है; पर तोभी बेचारी प्यास से छटपटा रही हैं। समुद्र में भी मछलियाँ प्यासी हैं ! रह-रह कर यह किसी मर्म-पीड़ा का अनुभव कर रहा है। पूछने पर जवाब यह मिलता है कि मेरा दर्द, दर्द नहीं—एक मीठी-सी चुभीली कसक है। यही कसक उसे यहाँ तक खींच लायी है। इसी से वह उसे प्राणाधिक प्यारी है। मुबारक हो ऐसा दर्द !

ऐसा अतिथि कदाचित् ही इस द्वार पर कभी आया हो। प्यारे, द्वार खोल कर इस मस्त पागल को इसी घड़ी दर्शन दो। ऐसे पाहुने नित्य तो आते नहीं। तुम्हें इसकी पहुनई

भी, एक तरह से, बहुत मँहगी न पड़ेगी। सिर्फ़ एक बार इसकी ओर मुसकरा भर देना। बस, मस्त हो झूमने लगेगा। सतृष्ण नेत्रों की तीव्र पिपासा तो उसी क्षण शान्त हो जायगी। मुरझाया हुआ मुख एकदम खिल उठेगा। ओठों पर मुसकराहट की एक पतली रेखा खिंच जायगी। तुम्हारी एक बार की ही चितवन से इस परिश्रान्त पथिक का काया-कल्प हो जायगा। देखते-देखते रस-समुद्र उमड़ उठेगा। प्रेम-पर्व का क्या अच्छा सुयोग है! ऐसे आकस्मिक आतिथ्य से चूकना ठीक नहीं।

लो, द्वार खुला। इसके बाद क्या हुआ, कहने का अधिकार नहीं।

# आवरण

हमीं से कहते हो, कि अपना परदा हटालो। परदा तो दो के बीच में हुआ करता है, एक के नहीं। सारा दोष हमारे ही माथे न मढ़ो, न्यायधीश! हमारे परदा खींचने से क्या होगा? तुम्हारी सूरत देखने को थोड़े ही मिल जायगी!

लोग कहते हैं, कि परदे की ओट में एक अद्भुत दृश्य दिखायी देता है; पर हमें तो यह सब धोखा जान पड़ा। समझ में ही नहीं आता, कि अद्भुत दृश्य किसे कहते हैं। हाँ, यदि तुम्हारी झलक देखने को मिल जाय, तो हम उसे कुछ अद्भुत या अलौकिक बात कहें। पर, तुम न जाने कहाँ, किस परदे की ओट में बैठे हो। हमने परदा अलग कर दिया, लोक-लाज को भी पानी की तरह बहा दिया, खुदी भी तुम्हारे गहरे इश्क में खो दी, पर चितचोर! तुम लापता ही रहे। हम तो समझते थे कि तुम हमारे सुख-दुख के साथी रहोगे, हृदय के हार बनोगे, कलेजे की कसक टटोलोगे, जिगर के जलते फफोले ठंडे करोगे, पर यह सब न करके तुमने हमारे आगे धर्म की ध्वजा गाड़ दी, ज्ञान का पोथा खोल दिया और निराशा का काला पहाड़ सामने खड़ा कर दिया! अब, हमारे परदा हटाने से क्या हुआ?

# दर्शन

कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में देख।
दीन-दुखियों की आँसूभरी आँख में देख।
धूल में मिले हुए हीरे की कनी में देख।
पतित, पददलित और तिरस्कृत कुटीर-पुष्प के अक्षत पराग में देख।
कमल-कोश में क़ैद भौंरे की प्रेम-परता में देख।
कवि की भावनास्थली पर इठलाती हुई लहरों में देख।
गगन-पटल पर अंकित चित्रों की कला में देख।
निर्जन वन के आराधक विहग-समूह में देख।
वासंती वायु की प्रकंपित और अस्पष्ट स्वर-लहरी में देख।
कलकल-निनादिनी तरंगिणी की एकान्त साधना में देख।
पत्तों पर धीरे-धीरे ढलकते हुए ओस-बिन्दुओं में देख।
भावुकता के कोमल और सरल हृदयस्पन्दन में देख।
टिमटिमाते हुए दीपक की सकरुण दृष्टि में देख।

अरे, विज्ञानियों के आविष्कार में, दार्शनिकों के तत्त्व-विचार में, व्यापारियों के बही-खाते में, अधिकारियों की सत्ता में तू उसे न देख सकेगा। उसकी झलक संसार से कहीं बाहर न दिखायी देगी। पर, उसे देखनेवाले का संसार कुछ निराला ही होगा। उस का दीदार तेरी तीन कौड़ी की दुनियाँ का काया-पलट कर

देगा। साथ ही तेरी दुरङ्गी नजर भी बदल जायगी। उस नजारे के आगे तुझे 'मुक्ति' भी फीकी और बदरङ्ग जँचेगी। बात है भी कुछ ऐसी ही—

"जब लौं तुमसों नहिं भेंट भई,
तब लौं 'तरिबो' का कहावतु है ?"

# वीणा

यह झीनी झनकार किधर से आ रही है ? हवा का रुख क्या इधर ही को है ? आज कार्यालय में जितना काम किया, शायद ही कभी उतना किया हो। सारे बंध ढीले पड़ गये हैं। शिर अब भी घूम रहा है। पर धन्य, मेरे स्वामी ! तूने हृदय भी क्या ही अनूठी चीज़ बनायी है ! आहा ! यह झनकार तो और भी समीप सुनायी देने लगी ! इसके तारों पर जिसकी सुकुमार सुकोमल उँगलियाँ नाच रही हैं, वह धन्य है ! इस मधुर झनकार से तो यही अवगत होता है कि मस्तिष्क और हृदय में धीरे-धीरे, किन्तु गम्भीरता से, द्वन्द्व-संग्राम हो रहा है। और जीत हृदय की हो रही है। इस अव्यक्त वीणा के प्रत्येक स्वर से सुधाबिन्दु टपक रहा है। मुझे तो इतने ही में सुख है कि दूर से इसका मधुर नाद सुना करूँ। कैसा होगा वह वीणा पर हाथ रखनेवाला, कैसी होगी उसकी गति-माधुरी, कैसी होगी उसकी सरल मन्द मुसकान ! जो हो, इस झनकार की तरल तरंगावली पर मेरे मन-मराल को तैरना ही सौभाग्य-चिह्न जान पड़ता है।

किन्तु सावधान ! स्वार्थी सावधान !! तेरे कठोर और भारी पैरों का आघात वे हलकी-हलकी तरंगें कैसे सह सकेंगी ? दूर से ही सुन उस गर्वीली इठलाती हुई झनकार को।

# बाँसुरी

क्या कभी फिर बजेगी वह बाँसुरी ? सुनी तो एक ही बार थी, पर उसकी प्रतिध्वनि आज भी इस अँधेरे शून्य हृदयागार में गूँज रही है। समझ में नहीं आता, उस फूँक में क्या जादू भरा था।

शिशिर के दिन थे। लजवन्ती प्रतीची को एक झीनी लाल साड़ी पहना कर भगवान् भुवन-भास्कर क्षितिज पार कर चुके थे। सुहागिनी प्राची के ललाम ललाट पर कुमुदिनी-कान्त सौभाग्य-सिन्दूर लगा रहे थे। गो-धूलि-आच्छादित आकाश मकरंद-मण्डित पुष्पोद्यान-सा प्रतीत होता था। चिड़ियाँ चहचहाती हुईं वृक्षों के अङ्क में बसेरा लेने जा रही थीं। ठण्ड के मारे निराश्रय जीव-जन्तु आश्रय ढूँढ़ रहे थे देखते-देखते चारों ओर सन्नाटा छा गया।

उन दिनों मेरी कुटिया, उत्तराखण्ड में, एक बीहड़ पहाड़ी के सामने थी। आस-पास टीले-ही-टीले थे। नीचे एक चुलबुला नाला कूद-फाँद कर रहा था, जिसकी विलोल लहरें प्रायः कुटिया के चबूतरे के साथ अठखेलियाँ किया करती थीं।

उस रमणीय सन्ध्या को चबूतरे पर निरुद्देश-सा बैठा हुआ मैं सामने के ऊँचे शिखरों की ओर टक लगाये देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत

के दाँतों से होड़ लगा रहे थे। बैठा-बैठा मैं, न जाने किस उधेड़-बुन में लग गया। मेरी विचार-शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं किसी गहरे अन्धकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भङ्ग कर दी। स्वर बाँसुरी का-सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ही ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशान्त नभोमण्डल में विद्युत् की भाँति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुस्कराने लगे। चन्द्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-सङ्केत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पक्षियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहनी ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर उसे मैं नव सृष्टि-विधायिनी क्यों न कहूँ?

हाँ, अवश्य ही उस बाँसुरी की तान में नवीन सृष्टि-विधान का अद्भुत उपादान था। ऐसा न होता तो उस स्वर-लहरी का आलिंगन कर प्रस्तर-खण्ड क्यों पसीज उठते? कठोर हृदया विभावरी के तारक-नेत्रों में प्रेमाश्रु क्यों छलक आते? वनश्री का धूमिल अञ्चल अनुराग-रञ्जित क्यों हो जाता? मेरा पाप-परितप्त मलिन हृदय दूध की धार से पखार कर कौन शीतल और निर्मल करता?

वंशी-ध्वनि बराबर उसी ओर से आ रही थी। कभी-कभी तो कानों के अत्यन्त ही समीप जान पड़ती थी। उस समय मेरा मन हाथ में नहीं था। रह-रह कर उछल-सा रहा था। वंशी बजानेवाला कौन है, कैसा है, कहाँ है, कैसे मिलेगा—आदि प्रश्नों में उलझ कर बेचारा अधीर हो उठा। उस रँगीले जादूगर की तरफ बेचारा खिचा-सा जा रहा था। चाहा कि कुटिया छोड़ कर वंशीवाले की इधर-उधर टोह लगाऊँ, पर उठ न सका। शरीर जकड़-सा गया। क्या वश! अधीर आँखें कानों को कोसती हुई, बिना पानी की मछलियों की तरह, छटपटाने लगीं।

वंशीवाले! तुम चाहे जो हो, पर हो पूरे निर्दय! आँखों से ओट ही रहना था, तो बाँसुरी क्यों फूँकी? किसने कहा था कि बाँसुरी बजा कर मुझे कुछ-का-कुछ कर दो! मेरा पहले का जीवन क्या बुरा था? कम-से-कम यह पागलपन तो सवार न था। दिल में न कोई दर्द था, न कसक थी, न आँखों में यह जहरीला नशा। न ऊधौ का देना था, न माधौ का लेना।

खैर, जो हुआ सो हुआ, अब अपना दरस कब दोगे, प्यारे? वह मोहिनी मुरली कब फूँकोगे, मोहन?

# वह ध्यान

कब से तुम्हारा ध्यान हूँ, करती हृदय-नाथ ? क्या यह विक्षिप्त जीवन तुम्हारी मानसिक मूर्ति का ही ध्यान करने को बनाया गया है, जीवितेश्वर ! तुम इस उपालंभ को शायद गर्व कहो ! गर्व ही सही । गर्व क्या बुरा है ? और फिर, तुम्हारे ध्यान का !

नाथ, एक ही बार तो तुम्हें वहाँ देखा था । कहाँ ? उसी दिव्यद्वीप में, जहाँ की एक अस्पष्ट बाल-स्मृति आज भी मेरे अधीर और प्रकंपित हृदय को ऊपर उछाल देती है । कैसा दिव्यद्वीप था ! अहा ! वह रात भूलने की नहीं । ज्योत्स्ना ने विस्तीर्ण सागर-तट को पखार कर, दूध के फेन-सा, धवल बना दिया था । चंचल और गरबीली लहरें उस अनंत बालुका-राशि के साथ अठखेलियाँ करती मेरी अधखुली आँखों में मुस्करा-सी जाती थीं । मेरी कुञ्ज उस समय देखते ही बनती थी । उसके झरोखों में हो झाँकती हुई चंद्र-किरणें मुझे जाल बिनना सिखा रही थीं । मेरा सरल हृदय उनकी उलझी उँगलियाँ पकड़ कर नाच-सा रहा था । उस रात वहाँ अकेली मैं ही थी । सखी-सहेलियाँ, मुझे छोड़ कर न जाने, कहाँ, चंपत हो गयी थीं । मुझे दुलार करनेवाली मेरी चिरसहचरी द्वीप-देवी भी कहीं चली गयी थी । देवी ने उस दिन मेरा अच्छा शृङ्गार किया था । जब

मेरा शृङ्गार किया गया, मैं सो रही थी। जागने पर मैंने अपनी वेश-भूषा देखी। हाथों में बकुल-कलियों के कलित कंकण और हृदय पर मुकुलित मालती की माला थी। लंबे और उलझे हुए बालों में रंग-बिरंगे फूलों के छोटे-छोटे गुच्छे गूँथ दिये थे। आँखों में, न जाने कहाँ की, मादकता लाकर भर दी थी। यह भी भला कोई काजल है! क्या कहती थी, क्या कहने लगी! हाँ, एक सफ़ेद चौकी पर बैठी कुछ गुन-गुना रही थी। उस गीत की टेक शायद, भूली नहीं हूँ तो, यह थी—

"प्रियतम, कैसो तेरो देश?

कैसी तेरी झलक झिलमिली, कैसो तेरो वेश?"

यह गीत मैंने द्वीप-देवी से सीखा था। अस्तु। उस अभूत-पूर्व रात्रि ने मुझे उन्मत्त-सा कर दिया। मन हाथ से जाता रहा। मैं उसे पकड़ती थी, पर वह हाथ छुड़ा कर लहरों से लपटता और किरणों से उलझता फिरता था। जाने दो, उसका स्वभाव ही चुलबुला है। मैं चंद्रमा की ओर देखने लगी। देखते देखते क्या हुआ, कह नहीं सकती। क्या देखा, याद नहीं।

अहा! देखते-देखते एक अप्रतिम आलोकमयी श्वेत रेखा ने अनंत आकाश और मेरे निकुञ्ज-द्वार को मिला कर एक कर दिया। क्या ही सुन्दर मार्ग में वह शुभ्र रेखा परिणत हो गयी! सब की सब रजत-निर्मित थी। और उस पर दूध और पद्म-पराग का छिड़काव। मैं बराबर चंद्रबिम्ब की ही ओर देख रही थी। थोड़ी देर में उस दिव्य मार्ग पर से अत्यंत वेग से उतरती हुई

एक 'स्वर्ण-कान्ति' दिखायी दी। उस कांचनवर्णीय उदय से समस्त प्रकृति विकसित हो गयी। सलज्ज दिशाएँ मुस्कराने लगीं। विलोल लहरें सागर के सस्नेह हृदय पर लेट गयीं। चाँदनी अमृत-फुही बरसाने लगी। क्या होनेवाला है, कुछ समझ में न आया।

वह 'स्वर्ण-कान्ति' सहस्र सूर्य से भी अधिक आलोकमयी थी। उसकी ओर देखते ही मेरी आँखें झप गयीं, पर उसी क्षण किसी के कोमल और स्निग्ध कर-पल्लव के स्पर्श ने मेरी मूर्च्छित पलकों को अनुप्राणित कर दिया। सामने एक मनो-हारिणी मूर्त्ति खड़ी थी। कैसी थी, यह तो मेरी बाल-स्मिति के सदृश सरल स्मृति ही कुछ-कुछ अङ्कित कर सकती है। एकान्त ध्यान-धारणा ही उसकी अनन्त-अनादि रूप-माधुरी का कुछ-कुछ आस्वादन कर सकती है।

प्रियतम, तुम आये क्यों थे? कौन बुलाने गया था? उस निर्जन और नीरव निशीथ में किसने कहा था कि, तुम आकाश के शून्य-मण्डल से सीढ़ी लगा कर मेरे 'रंक-द्वार' पर आ खड़े हो? इसीसे तो, जैसे आये तैसे लौट गये। कुछ स्वागत भी न हो सका। स्वागत और आतिथ्य की सुध ही किसे थी? और न तुम स्वागत के भूखे ही थे।

उस क्षण मैं अपने को भूल गयी। टक लगाये तुम्हारी ओर देखने लगी। हृदय उमग आया। अंग-अंग पुलकित हो गया। गला भर आया। आँखें झूमने लगीं। तुम्हारी रूप-माधुरी ने

उन्हें और भी प्रमत्त कर दिया। क्या उन्हें ऐसी 'पेया' फिर कभी पीने को मिलेगी ?

मेरी ओर देख-देख कर मुस्कराते क्यों थे, नाथ ? क्या मेरे अस्तव्यस्त शृङ्गार पर दृष्टि गयी थी ? मैं भला शृङ्गार क्या जानूँ! क्या मेरी अशिष्टता पर ध्यान गया था ? सो भी मैं नहीं जानती। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि तुम आये और मैं तुम्हें देखने लगी। जब तुमने मेरे नेत्रों पर अपनी फूल-माला का स्पर्श कराया, मैं स्नेहाधीर हो उठी। ज्योंही मैंने तुम्हें अंक में भरने को अपनी काँपती हुई भुजाएँ आगे बढ़ायीं, तुम अन्तर्धान हो गये! यह कौनसी लीला थी, लीलामय ?

उस दिन से तुम्हारा पता ही नहीं। द्वीप भी, न जाने कहाँ, छूट गया। तब से कहाँ-कहाँ मारी-मारी फिरती हूँ! कौन जानता है कि मैं किसकी टोह में हूँ ? लोग मुझे 'पगली' कहते हैं। मैं भी उनके इस उपाधि-दान पर मन-ही-मन प्रसन्न होती हूँ।

हृदय कहता है, कि ध्यान सफल होगा, तुम मिलोगे। क्या सचमुच ही तुम मिलोगे, हृदयेश्वर ?

# मुसकराहट
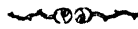
क्या कभी वह मुसकराहट भूलेगी ? ज्योंही वह मुसकराया, समस्त प्रकृति पुलकित हो उठी। निस्तब्ध आकाश उद्वेलित हो गया। धीर समीर में प्रकम्प होने लगा। कुसुम की कोमल कलियों पर रोमाञ्च हो आया। लताएँ थिरकने लगीं। पाटल की पंखड़ियाँ पसीज उठीं। कमल-कोश से रस छलकने लगा। भौंरे अस्फुट ध्वनि से गूँजने लगे। पक्षी इधर से उधर उड़-उड़ कर चहकने लगे। अधिक क्या, माधुर्य मुकुलित हो उठा, विकास विकसित हो गया और लावण्य बार बार उस मुसकराहट के कोमल स्पर्श को चूमने लगा।

कितने नेत्रों ने उस सुधा से अपनी प्यास बुझायी ? कितने हृदय-पटलों पर वह इन्द्रधनुषकी-सी सस्मित रेखा खचित हो गयी ! कितनों के मन-मृग उस स्मिति-पाश में उलझ कर फँस गये ! ओह ! क्या से क्या हो गया ! उस मुसकराहट में यदि बाँधने की शक्ति थी, तो साथ ही मुक्त करने की भी युक्ति थी। उसकी ओर देख-देख कर विष और अमृत ने कई बार प्रेमालिङ्गन किया था। वहाँ मृत्यु और जीवन का भी प्रत्यक्ष समन्वय देखने को मिला था।

चतुर चितेरे रङ्ग और कूची ले-लेकर उसकी तसवीर खींचने आये, पर बेचारे खड़े देखते ही रह गये। उनकी आँखों ने उस

तरल तरङ्गमाला में ऐसी उछल-कूद मचायी कि ग़रीबों से कुछ भी न करते बना। उलटे आप ही उधर खिंच गये! यही दशा शब्द-वाटिका के मालियों की भी हुई। उनकी प्रतिभा उस ओर ऐसे खिंच गयी, जैसे लोहे को चुम्बक लपक लेता है। कुछ शब्द हृदय से बाहर निकलना चाहते थे, पर कण्ठ और मुख पर कड़ा पहरा बैठा था! लेखनी कभी की पथरा गयी थी। कहें तो क्या, और लिखें तो क्या?

जब कभी मैं उस मधुर मुसकान का ध्यान करता हूँ तब, न जाने क्यों, निखरी हुई शरच्चन्द्रिका का स्मरण हो आता है, हिम-मण्डित धवल शिखरों पर खेलने को मन दौड़ जाता है और कुछ ऐसा जान पड़ता है, जैसे मेरी अधखुली आँखें पलकों को कच्चे दूध से पखार रही हों। समझ पड़ता है, शान्ति, सरलता और विमलता उस मुसकान से ही प्रस्फुटित हुई हैं। विकास और प्रकाश उसी मुक्ति-नन्दिनी के सरस अधर-पल्लव हैं।

उस मुसकान की झलक एक ही बार क्यों मिली? वह अमृतमयी विद्युत्प्रभा एक ही बार चमक-दमक कर क्यों अनन्त अदृष्ट में लीन हो गयी? आँखों में, बाट देखते-देखते, झाईं पड़ गयी। कलेजा आह के धुएँ से धुँधला हो गया। पर वह चिदानन्द-विलासिनी मुसकराहट आज तक सामने न आयी! न जाने, किस कोप-भवन में मान ठाने बैठी है!

उसकी झलक कौन नहीं लेना चाहता? कितने तरसते नेत्र

उस रूप की प्यास में नहीं तड़प रहे हैं ? रात तो नित्य ही अगणित आँखें फाड़-फाड़ उधर देखा करती है। यही दशा वृक्षों, पक्षियों और पशुओं की भी है। देखें, अब कब उस मुसकराहट का सुधारस चखने को मिलता है !

# कामना

मेरा जन्म उस देश में न हो, प्रभो! जहाँ प्रभात की किरणमाला तो स्वार्थ के पंकिल जल से पखारी जाती हो और सरला सन्ध्या अकारण द्वेष की कालिमा से अपना अंगराग किया करती हो। मेरा तो पुनर्भव वहाँ हो, जहाँ की उषा पर उद्‌बोध की विमलाञ्जलि विसर्जित की जाती हो; जहाँ की संध्या सुन्दरी अपने प्रणय-पात्र अनन्त जीवन को प्रगाढ़ालिंगन दिये रहती हो।

उस उन्मत्त जन-समूह के सहवास का कभी अवसर न आवे, नाथ! जो कर्त्तव्य-कुसुमों को कुचल कर उद्दाम विला-सिता के साथ नग्न विहार कर रहा हो, जो सदाचार को ठुकरा कर दंभ के साथ कूट मंत्रणा करने में ही व्यस्त रहता हो। मैं तो उन महानुभावों के सहवास की कामना करता हूँ, जो वासनाओं के स्वर्ण-पींजड़े से निकल कर उन्मुक्त विहग-कुल की भाँति प्रेम-कानन में स्वतंत्रता से विचरा करते हों, जो अपने आडम्बर-विहीन जीवन की भेंट लेकर प्रतिक्षण कर्त्तव्य-वेदिका के समक्ष खड़े रहते हों।

मेरे जीवन का वह उद्देश न हो, जीवन-सर्वस्व! जिसकी साधना करते हुए मृग-मरीचिका की उत्तुङ्ग तरङ्गों द्वारा मृत्यु-पर्यन्त आन्दोलित ही होना पड़े, जिसकी अपूर्त पूर्ति करते

हुए तुम्हारे आदेश से मुख मोड़ना पड़े। मैं तो उस उद्देश का इच्छुक हूँ, जो लोकोपकार के कमल-कोश में प्रणयी भ्रमर की तरह बँधा रहता हो, एवं जिसका साधन-मंत्र, जीवितेश्वर! तुम्हारे प्रेम-पटल पर अंकित हुआ हो।

# तीर्थ-यात्रा

बहुत दिनों से दर्शनोत्कण्ठा थी। उसे देखने को, न जाने कब से, मन उड़ रहा था। यह नहीं, कि कभी उसे देखा न हो। देखा था; कई बार देखा था। और जी भर देखा था। चरण-स्पर्श भी एक बार किया था। मध्यमा वाणी द्वारा एकाध बार स्तोत्रपाठ भी हो चुका था। पर, यह सब अन्यत्र, उसके तीर्थोपम स्थान पर नहीं। सुन रखा था कि वह वर्ष उसका 'अज्ञात वास' का वर्ष है। औरों की दृष्टि में ऐसा ही होगा, पर हमारी नज़र में तो वह वर्ष 'सुज्ञात वास' का संवत्सर था। हृदय-पटल पर तो उसका चित्र मुद्दत से खिंचा था, पर प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाली आँखों को प्रतीति कहाँ? हृदय और आँखों में समझौता न हो सका। बरसाती नदी की तरह उनकी तृष्णा प्रतिक्षण बढ़ने लगी।

भक्ति से अधीर हो एक दिन वहाँ पहुँच ही तो गया। गरमी के दिन थे। सूर्य भगवान् क्षितिज-रेखा को रक्तानुरञ्जित करने में व्यग्र थे। वृक्षों की छाया; सज्जनों की मैत्री के समान, पल-पल पर बढ़ती ही जाती थी। सान्ध्य गगन की ललित लालिमा कवि-कल्पना को प्रगाढ़ालिङ्गन दे रही थी। गो-धूलि से सुनील आकाश पाण्डुवर्ण हो गया था। निदाध-ताप अब बहुत कम था। अस्तु; उस स्थान की क्षेत्र-सीमा पर मैं पहुँचा। जिस पवित्र नदी के तट पर उस नर-श्रेष्ठ का आश्रम अवस्थित है

उसमें, वृषादित्य की प्रचण्डता के कारण, जल की एक क्षीण रेखा दूसरे पार दिखायी देती थी। दूर तक बालू ही बालू नजर आ रही थी। वृक्ष झुलस-से गये थे। सूखी पत्तियाँ झड़-झड़ कर जहाँ-तहाँ बिछ गयी थीं। कपास के पेड़ बड़े सुहावने जान पड़ते थे। बीच में एक खपरैल भवन था और उसके आस पास कई छोटी-छोटी कुटियाँ। सादे रहन-सहन के कुछ परिश्रमी व्यक्ति और क्रीड़ा-निरत बालक-बालिकाओं को उस स्वतन्त्रता-सदन के आँगन में देख कर मैं पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। आश्रम में बड़ी स्वच्छता और पवित्रता थी। उस तीर्थ-भूमि पर पैर रखते ही एक प्रकार की दिव्य शान्ति का अनुभव होने लगा।

दर्शन मिला। वह जगद्वन्द्य महापुरुष एक कुशासन पर आसीन था। आस-पास कुछ साधक बैठे थे। उस समय वह सदाशय अपने सम्मुख प्रतिष्ठित देवता की अर्चा में निरत था। पूजा समाप्त होने को थी। उसके आराध्य देव का नाम 'सुदर्शन' है। मैंने उस स्थितप्रज्ञ महात्मा को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, और थोड़ा-सा मानसिक स्तवन भी। मानसिक इसलिए, कि मुख से कुछ भी बड़बड़ाने में संकोच और भय लगता था। वह मेरी ओर मुस्कराया। कुशल-क्षेम पूछा—और कुछ स्नेहोद्गार भी प्रकट किये। मेरे संकीर्ण हृदय में आनन्दाब्धि लहराने लगा। मन ही मन बोला, बड़ा भाग्यवान् हूँ; इस सौभाग्य पर क्यों न अभिमान करूँ।

हाँ, मानसिक स्तवन का भाव, जहाँ तक स्मरण है, कुछ-कुछ ऐसा था—

"नरश्रेष्ठ ! तू वह आदर्श उपस्थित करने को धरातल पर अवतीर्ण हुआ है, जिसे हृदयस्थ कर आज नहीं तो कल अवश्य ही त्रिताप-संतप्त जन-समाज विश्व-वीणा के स्वर में सजीव सुख-शान्ति का राग अलापने में समर्थ होगा।

"सत्यनिष्ठ ! तेरा जन्म और मरण दोनों ही सत्य-साधना के अर्थ हैं। सत्य को तू साकारता प्रदान कर चुका है। तेरा और सत्य का सौहार्द देख कर कौन कृतकृत्य न होगा ? धन्य तेरा सत्याग्रह ! धन्य तेरी सत्य-निष्ठा !

"तपोधन ! तेरी तपस्या उनके निमित्त है, जो तिरस्कृत, पतित और पद-दलित हैं; जो निर्धन, निराश्रय और निर्बल हैं ! जो दीन, हीन और पराधीन हैं। तू बोता है, वे काटते हैं;

"शक्तिशालिन् ! तू ने आज जगद्व्यापी हिंसा की भी हिंसा कर डालने का संकल्प किया है। तभी तो तू ने अपने अप्रमेय पराक्रम से बड़े-बड़े बलवानों को भी थर्रा दिया है। तेरी प्रदत्त शक्ति का परिणाम निस्संदेह 'जीवनोत्सर्ग' है। और जीवनोत्सर्ग ही तो मुक्ति का जनक है।

"धर्ममूर्त्ते ! तुझे किस धर्म का प्रतिनिधि कहें ! तेरी आत्मा में राम की मर्यादा, कृष्ण की कर्मण्यता, बुद्ध की अहिंसा, शंकर की भीमता, चैतन्य की भावना, ईसा की दीनबन्धुता और मुहम्मद की कट्टरता आदि अनेक धर्म-धारणाएँ विद्यमान हैं।

तू सत्य के माध्यम द्वारा इन सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करं रहा है। धन्य तेरा सत्प्रयास !

"भागवत-भूषण ! कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है। तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमानन्यता में गोपिकाओं की, कीर्तन में गौराङ्ग देव की, और भक्ति-विह्वलता में मीरा की प्रतिमूर्त्ति सामने आ खड़ी होती है। भक्ति की मूर्छित लता को आज तू अपने आँसुओं से सींच-सींच कर अनुप्राणित कर रहा है।

"महात्मन् ! वास्तव में इस युग का तू एक ईश्वरीय रहस्य है। तुझे नमस्कार है ! शत-सहस्रशः नमस्कार है !!"

उस पुण्यश्लोक की मुट्ठी भर हड्डियों के दर्शन-लाभ से निश्चय ही मेरी मृतप्राय आत्मा में एक नवीन और पवित्र जीवन का संचार हुआ। तीर्थ-यात्रा सफल हुई। उस महानु-भाव की अनिर्वचनीय अवस्था देख कर मुख से हठात् यह भगवदुक्ति निकल पड़ी—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ !
नैना प्राप्य विमुह्यति ।'

# रमैया

"टूट गया, तो टूट जाने दो। रोते क्यों हो, लला! मैं तुम्हें और खिलौना ला दूँगा।"

"नहीं, हम तो अपना वही खिलौना लेंगे।"

रमैया, यह कहता हुआ, धूल में लेट गया। रमैया का मचलना मैं खूब जानता हूँ। उसे मना लेना सहज नहीं। मैं भी—कौन तेरे मुँह लगे—कह कर एक पेड़ की ओट में खड़ा हो गया। वह अब भी 'मेरा खिलौना, 'मेरा खिलौना' रटता हुआ फूट-फूट कर रो रहा था। थोड़ी देर में उसका प्यारा मृग-शावक कहीं से उछलता-कूदता उसके पास आ पहुँचा। रमैया किलक कर उससे लपट गया। मृग-शावक ने भी अपनी अव्यक्त भाषा में उस चपल बालक से कुछ बात की, जिसे वह तुरन्त समझ गया। लो, वह खिलौना भूल गया। दोनों खेलते-कूदते एक लता-मंडप की ओर चले गये। मैं भी पीछे-पीछे हो लिया।

संध्या का समय था। और महीना था चैत का। पहाड़ी पर से भेड़ें तेजी से उतर रही थीं। उनके गले में बँधी घंटियों का स्वर बड़ा सुहावना जान पड़ता था। अधीर वत्सला गाएँ रँभाती हुई गो-शाला की ओर दौड़ती आती थीं। गड़रिया भी पीछे-पीछे बाँसुरी बजाता, झूमता हुआ, चला आ रहा था। उस के साथ दो-तीन कुत्ते भी थे। गो-धूलि से आकाश पांडुवर्ण हो

गया था। चिड़ियाँ चहचहाती हुई पेड़ों पर बसेरा लेने जा रही थीं। मेरे उद्यान में पक्षियों का कलरव खूब भर रहा था। यही सुन्दर दृश्य दिखाने के लिये, जान पड़ता है, वह मृग-शावक मेरे रमैया को उस लता-मंडप की ओर खींच ले गया। न मेरा लाल खिलौने के लिये मचलता, न मुझे वह संध्या-कालीन मनोरम दृश्य देखने को मिलता।

उस समय रमैया बड़ा ही प्रसन्न था। मृग-शावक भी उस के साथ किलक-किलक कर खेल रहा था। मेरे लाल के मुख पर एक अपूर्व आभा थी। रोते-रोते उसकी बड़ी-बड़ी आँखें लाल हो गयी थीं। सान्ध्य गगन की रक्ताभा ने भी उस लाली में एक अनुपम योग दिया था। कपोलों पर हँसते समय, जो गड्ढा पड़ जाता था, उसमें एक निराली ही सरलता झलकती थी। लाल-लाल ओठों की पतली रेखा पर क्या ही भोलापन थिरक रहा था! उस बाल-लावण्य को धूलि-धूसरित अलकों ने और भी बढ़ा दिया था। उन उलझी अलकों को संध्या की ठंडी हवा अपनी सुकुमार और सुमृदु उँगलियों से सुलझा-सी रही थी। उस छबि का ठीक-ठीक चित्राङ्कण मेरी लौह-लेखनी-द्वारा असंभव है; उस रूप का सच्चा चित्रकार तो वह चपल मृग-शावक ही है। मैं तो दूर से, पेड़ की ओट में चोर-सा छिपा, मन-ही-मन यह पंक्तियाँ गुन-गुना रहा था—

"अरबिंद सो आनन, रूप-मरन्द,
अनंदित लोचन-भृङ्ग पिये;

मन में न बस्यौ अस बालक जो,

'तुलसी' जग में फल कौन जिये ?"

बाल गोविन्द के रूप-मकरंद का पान करते-करते आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। शरीर पर रोमांच हो आया। ऐसा समझ पड़ा, मानो मैं कमल के फूलों को गोद में समेटे उस प्रशान्त वातावरण में उड़-सा रहा हूँ। जान पड़ा कि मेरा रोम-रोम किसी ने चन्द्र-सुधा से परिप्लुत-सा कर दिया है। समस्त प्रकृति मुझे अपने लाल की लाली से रँगी देख पड़ने लगी। अहा!

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल !'

अधीर हो मैंने अपने रमैया को दौड़ कर छाती से लगा लिया और उसका मुख चूम कर कहा कि—'लला, तुम मेरे खिलौना हो।'

खिलौने का नाम सुनते ही वह फिर मचल गया। धन्य यह बाल-लीला !

# मेरेलाल !

"मोहन, उठो, उठो—देखो, तुम्हारी बुधिया 'हम्माँ हम्माँ' करती अपनी माँ का दूध पीने को कैसी उतावली हो रही है !"

"कहाँ है अमाली बुधिया ? आज अभी उछे घास चलायँगे ।"

"लला ! पहले उठो तो ।"

मोहन बुधिया की आवाज़ सुन कर चट उठ बैठा । और जाकर अधीर बुधिया के गले से लपट गया । बुधिया भी बड़े चाव से उसकी बिखरी हुई अलकें चाटने लगी ।

कई बरस बीत गये, पर वह दिन मेरे लिए आज भी वैसा ही है । अहा ! वह प्रभात कभी भूलने का है ? उस दिन आकाश हँस-सा रहा था । पक्षी भी किसी निराले राग में मस्त थे । जिधर देखो उधर माधुर्य भरा दिखायी देता था । कमलदलायत नेत्र मूँदे मोहन सो रहा था । उषा-समीर उसके लच्छेदार काले बालों पर कल्लोल कर रहा था । उस समय मेरे लाल की मुखच्छबि में, न जाने क्या, मोहिनी थी । मुख-कमल मुकुलित हो रहा था । ओंठों की अरुण रेखा में सरलता झलकती थी । लाल-लाल गुलाब सी हथेलियों से वात्सल्यरस छलक-सा रहा था । अलकों पर हाथ फेरने से फूल बिखरने का-सा आनन्द आता था । बालगोविन्द की वह दिव्य शोभा मैं अनिमेष दृष्टि से देखने लगा । उस

समय उस अछूती कली का कोमल स्पर्श और मधुर चुम्बन कर मैं फूला नहीं समाता था।

जगाने पर तो मोहन की बाल-छबि कुछ और ही हो गयी। दो सम्पुटित कमल-कलिकाएँ धीरे-धीरे विकसित होने लगीं। उन पर क्या ही मधुर और पवित्र पराग झलक रहा था! नींद की सरल मादकता उन छलकते हुए कटोरों में तैरने लगी। उधर कपोलों पर चपलता, अलग ही, थिरकने लगी। मेरा स्नेह-अधीर मन, मन-मोहन की बाल-माधुरी पर मुग्ध हो, मानों क्षीरसागर की तरङ्गों से टकराने लगा। कभी-कभी यह भी जान पड़ता था कि मैं पर लगाये अनन्त आकाश में उड़ान भरता हुआ नन्दनवन के पारिजात-पुष्प चुन रहा हूँ।

"कहाँ है अमाली बुधिया ?"—सुन कर मैं चौंक पड़ा। क्या ही मधुर वाणी है! क्या यह तोतले वचन किसी अनहद-नाद से कम हैं ? अनहद से इनकी उपमा देनी ही व्यर्थ है। स्वयंसिद्ध बाल परमहंस मोहन का प्रत्येक अस्फुट शब्द निराकार शब्दब्रह्म का साकार स्वरूप था। "अमाली बुधिया" सुन कर मुझे—

'निवछावरि प्रान करै तुलसी,
बलि जाउँ लला ? इन बोलन की'

पंक्ति याद आ गयी। लला के यह तोतले बोल सुन मैं अपने भाग्य की सराहना करने लगा। सच पूछो तो, वह 'वात्सल्य-रसानन्द' ब्रह्मानन्द से कम नहीं था।

चाहा कि गोद में बिठा कर मोहन के दो-चार बोल और सुनूँ, पर वह मेरा हाथ छुड़ा कर अपनी बुधिया के ही पास दौड़ गया। जान पड़ता है, बुधिया ही उसके तोतले वचनों का अधिक मूल्य रखती थी। गोद से उतारते समय मेरी आँखों में आँसू भर आये। मुख चूम कर मैंने इतना ही कहा—"मेरे लाल!"

# उद्‌बोध

# दर्पण

क्यों हमेशा दर्पण लिये बैठे रहते हो ? क्या तुम्हें कोई और काम नहीं रहता ? भाई, तुम्हारी यह नित्य की दर्पण-लीला देख कर मुझे बारबार यह भजन याद आ जाता है—

"मुखड़ा क्या देखै दरपन में !
तेरे दया धरम नहिं तन में।"

दर्पण, शायद, तुम इसलिए देखते होगे कि वह तुम्हें 'सुन्दर' होने का प्रमाण-पत्र प्रदान किया करता है ! तुम अपने को सुन्दर मानते भी होगे। सौन्दर्य का तुम्हें अभिमान भी होगा। पर क्या तुमने कभी वास्तविक सौन्दर्य पर भी विचार किया है ? न किया होगा। किया होता, तो आज तुम्हारे निर्बल हाथ में यह काँच का टुकड़ा न होता।

तुम्हें अपना सौन्दर्य ही देखना है तो उसे प्रकृति के दर्पण में क्यों नहीं देखते ? चले जाओ प्रकृति के शीश-महल में। वहीं तुम अपने लावण्य और माधुर्य का यथेष्ट चित्राङ्कण कर सकोगे। वहाँ तुम चन्द्र-किरणों में अपनी नित्य-नूतन दिव्य कांति का आभास पाओगे। अरुणोदय की प्रभा में तुम अपने कलित कपोलों की स्वच्छ लालिमा देखोगे। कमल की अर्द्धविकसित कलियों में तुम्हें अपनी बड़ी-बड़ी सुन्दर और रसीली आँखें देखने को मिलेंगी। नवीन लाल-लाल कोंपलों में तुम्हें अपने

अरुण और सरस ओंठ दिखाई देंगे। ललित लताओं के जालों में तुम अपनी घुँघराली अलकें सुलझाने लगोगे। उस दर्पण में तुम अपने को नित्यकिशोर और नित्यसुन्दर पाओगे। यह नक़ली दर्पण तो उसी क्षण तुम्हारे हाथ से छूट कर गिर पड़ेगा।

तुम्हें अपना सौन्दर्य ही देखना है तो उसे हृदय के स्वच्छ दर्पण में क्यों नहीं देखते ? चले जाओ हृदय के भावना-भवन में। वहीं तुम अपने लावण्य और माधुर्य का यथेष्ट चित्राङ्कण कर सकोगे। वहाँ तुम आलोकमयी निर्मल भावनाओं में अपनी दिव्य कान्ति का आभास पाओगे। प्रचंड ओज में तुम अपने कलित कपोलों की स्वच्छ लालिमा देखोगे। सरलता और सत्कल्पना में तुम्हें अपनी बड़ी-बड़ी सुन्दर और रसीली आँखें देखने को मिलेंगी। सरसता और रसिकता में तुम्हें अपने अरुण और सरस ओंठ दिखायी देंगे। सहृयता की निकुञ्ज में बैठ कर तुम अपनी घुँघराली अलकें सुलझाने लगोगे। उस दर्पण में तुम अपने को नित्यकिशोर और नित्यसुन्दर पाओगे। यह नकली दर्पण तो उसी क्षण तुम्हारे हाथ से छूट कर गिर पड़ेगा।

तुम्हें अपना सौन्दर्य ही देखना है तो उसे आत्मा के निर्मल दर्पण में क्यों नहीं देखते ? चले जाओ आत्मा के नीरव अन्तस्तल में। वहीं तुम अपने लावण्य और माधुर्य का यथेष्ट चित्राङ्कण कर सकोगे। वहाँ तुम नित्यज्योति के प्रकाश में अपनी दिव्य कान्ति पाओगे। आनन्दोदय में तुम अपने कलित कपोलों की लालिमा देखोगे। आत्म-सन्तुष्टि और सौम्यता में तुम्हें अपनी

बड़ी-बड़ी सुन्दर और रसीली आँखें देखने को मिलेंगी। प्रेम-परता में तुम्हें अपने अरुण और सरस ओंठ दिखायी देंगे। अनिर्वचनीय सुखानुभूति में उलझ कर तुम अपनी घुँघराली अलकें सुलझाने लगोगे। उस दर्पण में तुम अपने को नित्यकिशोर और नित्यसुन्दर पाओगे। यह नक़ली दर्पण तो उसी क्षण तुम्हारे हाथ से छूट कर गिर पड़ेगा।

# विश्राम

कहाँ है इस हलचल में विश्राम ? किसी को पलभर भी तो कल नहीं। अखण्ड ब्रह्माण्ड का हृत्पिण्ड थरथर काँप रहा है। भूगर्भ अवरुद्ध अग्नि की तरल तरङ्गों से उद्वेलित-सा हो रहा है। समुद्र की अठखेलियाँ दम ही नहीं लेतीं। आकाश का भी वक्षःस्थल वायु के आघात-प्रत्याघातों से क्षत-विक्षत-सा रहा करता है। दिन की दौड़-धूप कौन नहीं जानता ? उधर रात अलग ही टक लगाये छलछलाती आँखों से अपने अदृष्ट की ओर निहारा करती है। अणु-परमाणु तक इस कर्मयोग से विरक्त नहीं। सारांश, प्रकृति के रहस्य-हिंडोले पर कौन नहीं चढ़-उतर रहा है !

उस दिन अनन्त क्षितिज की रेखा पर चढ़ कर इस हलचल का एक धुँधला चित्र देखा था। आन्दोलन का अर्थ तभी प्रत्यक्ष हुआ था। क्या ही खेल था ! कर्म का क्या ही एक-छत्र शासन था ! प्राणों की बाज़ी लगानेवाले वीर-बाँकुरे ही वहाँ खुल कर खेलते थे। निर्बल नपुंसक तो बीच ही में कुचल कर पिस जाते थे। और भीरु इधर से उधर, 'पोलो' की गेंद की तरह, ठोकरें खाते और लुढ़कते फिरते थे। एक दृश्य बड़ा विचित्र था। वह था दिक्काल का अनन्त आलिङ्गन। बीच में सहस्र सूर्य की भाँति ज्वालाएँ उगलनेवाला एक प्रलयकारी "चक्र" घूम रहा था।

कदाचित् उसी चक्र के रहस्य का समझ लेना 'गहना गतिः' कहा गया है।

इस अविरत प्रगति का लक्ष्य एक ही है। जहाँ तक स्मरण है, उसका नाम 'विश्राम' है। वह सजीव है, निर्जीव नहीं। उसमें एक स्फूर्ति है, एक विकाश है। एक आदेश है, एक कर्त्तव्य है। एक योगक्षेम है, एक निःश्रेयस है। यह विश्राम उस चक्र का आधार है, या उसकी गति का आदि, मध्य और अवसान है।

त्रिलोक का प्रयास इसी विश्राम-लाभ के लिए जान पड़ता है। कहीं प्रत्यक्ष रीति से, तो कहीं अप्रत्यक्ष रीति से। त्रिकाल की गुत्थियाँ यहीं सुलझती हैं। कैसे ? इसी का बताना तो टेढ़ी खीर है।

विश्राम के नाम पर झूठी विज्ञापन-बाज़ी इतनी अधिक होती है कि उसके चक्कर में आ कर प्रायः समस्त सृष्टि अकर्मण्यता के गर्त्त में पड़ी सड़ा करती है। आशा से हाथ धो बैठना तो इस भ्रान्त विश्राम के उम्मेदवार के लिए पहली सीढ़ी है। भीरुता इस मृगतृष्णा की सहचारिणी है। विलासिता सहोदरी है। और इसका क्रीड़ा-स्थल है स्मशान वैराग्य का विनोदाञ्चल !

सच्चा विश्राम सचमुच ही बड़ा दुर्लभ है। निर्भीक कर्मयोगी ही उस निधि के सच्चे अधिकारी हैं। उसकी साधना कुछ बेपरवाह मस्तों से ही बन पड़ी है। वीर स्वार्थत्यागियों ने ही वह महा मन्त्र साधा है। उन स्वायत्तसिद्धों ने अपने अजर-अमर

सिद्धान्तों को 'ब्राह्मी अवस्था' के दिव्य पटल पर अङ्कित किया है। शान्ति-कुटीर तो सदा ही उन नित्य विकसित सिद्धान्त-पुष्पों से आच्छादित रहती है।

विश्राम का कैसा चित्र है, ठीक-ठीक नहीं उतारा जा सकता। कूची अपनी रङ्ग-रेलियाँ उस सूरत को देखते ही बन्द कर देती हैं। रङ्ग-बिरङ्गे रङ्ग भी बदरङ्ग हो मुँह छिपा लेते हैं। चित्रकार की आँखें तो पहले ही मुँद जाती हैं। यह है विश्राम की चित्रणा !

हम अशान्त भ्रान्त पथिकों के लिए विश्रान्त सुख का रसास्वादन करना मन-मोदकों का खाना है। विश्राम ! तेरी महिमा तो वही जान सकेगा, जो तेरे देश का निवासी होगा।

# परिश्रान्त पथिक

"अरे भैया! घड़ी भर विश्राम तो कर ले। इस पेड़ की डाल पर अपनी पोटली टाँग दे, और बैठ कर दो घूँट ठण्डा पानी पी ले। कहाँ से आ रहा है, भैया? पसीने से लथपथ हो रहा है। साँस पेट में नहीं समाती। पैर सूज गये हैं। कलेजा भूख के मारे मुँह में आ रहा है। अभी और कहाँ तक जाना है, भाई?'

"क्या पूछते हो! कुछ पता नहीं, कहाँ तक जाना है।"

ऐं! यह कैसी बात! कुछ पता नहीं!"

"हाँ! भाई, कुछ पता नहीं। चलते-चलते, न जाने, कितने दिन हो गये, पर अभी तक मुझे यह मालूम नहीं कि मैं किधर जा रहा हूँ। अनेक नगर, गाँव, खेड़े, नदी, नाले, पहाड़, टीले, जङ्गल पार करके जब मैं आगे नज़र फेंकता हूँ तब अनन्त क्षितिज-रेखा ज्यों की त्यों ही दिखायी देती है! कभी-कभी तो मैं जहाँ से चलता हूँ वहीं फिर घूम-घाम कर आ पहुँचता हूँ। कोई मुझे मेरा पता भी तो ठीक-ठीक नहीं बतलाता। सङ्गी-साथी भी अब तक कोई मन का नहीं मिला। गठरी के बोझ के मारे गर्दन झुक गयी है, सिर फटा जाता है। टेकने की लाठी भी गिर-गिर जाती है। बड़ी आफ़त है। क्या करूँ—क्या न करूँ?"

"इस पोटली में क्या-क्या है ?"

"सुन कर हँसोगे। सिवा कङ्कड़-पत्थर के रखा ही क्या है ?"

"तो फेंक क्यों नहीं देते ?"

"कैसे फेंक दूँ ? लालच बुरी बला है। लोग कहते हैं कि एक दिन यह कङ्कड़-पत्थर हीरे-मोती हो जायँगे। राम जाने, उनकी इस भविष्यवाणी में कहाँ तक तथ्य है !"

"तो क्या तुम इन्हीं हीरे-मोतियों की टोह में बावले बने घूम रहे हो ? अजीब आदमी हो ! इन कङ्कड़-पत्थरों को फेंक-फाँक कर उस सच्चे हीरे की खोज क्यों नहीं करते, जिसे पाकर तुम्हारी सारी यात्रा सफल हो जायगी ?"

'तेरा हीरा हेराइगा कचरे में'—यह विरागभरी स्वरावली कहीं से प्रताड़ित हो हम लोगों के कानों में गूँजने लगी।

पथिक ने उस गान को सुनकर पूछा—

"क्यों भाई ! तुम मुझसे इसी हीरे के खोजने के लिए कहते थे ? यह हीरा कहाँ मिलेगा ?"

"तुम्हारी इसी फटी-पुरानी गुदड़ी में कहीं छिपा होगा। उसके लिए तुम्हें पूरब-पच्छिम न भटकना पड़ेगा। अहा ! उस हीरे की दमक हज़ारों सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से कहीं बढ़कर है। उसका जौहर हर एक नहीं जानता। लाख क्या, करोड़ में कहीं उसका एक जौहरी मिलेगा।"

"इसी फटी पुरानी गुदड़ी में! फिर दिखाई क्यों नहीं देता?"

"धूल-भरा है न?"

"फिर कैसे दिखायी देगा?"

"दृष्टि निर्मल करो। दिव्य दृष्टि से उसका दर्शन होगा। दिव्य दृष्टि का अञ्जन तुम्हें इस वृक्ष के नीचे ही मिल जायगा। धीरज धरो, पथिक! बहुत भटक चुके, अब चलने-फिरने की ज़रूरत नहीं। तुम चाहोगे तो वह हीरा इसी क्षण मिल जायगा।"

पथिक की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी और उसकी सफ़ेद दाढ़ी पर से मोती-जैसे बूँदें टपक पड़ीं।

# सवार

देख, घोड़े की बाग मोड़, नहीं तो आगे धड़ाम! इस घोड़े पर चढ़ने का तुझे क्या घमण्ड है? जानता नहीं, यह अश्व कितने कुशल आरोहियों को गिरा चुका? माना कि इसकी गति कल्पनातीत है; इसकी पहुँच तीनों लोक में है, इसकी दौड़ चौदहों भुवन तक है, पर अश्वारोही! तूने इस पर चढ़कर क्या देखा? वही तीन कौड़ी की दुनियाँ, दस इञ्ची का क्षेत्रफल! तिस पर जरा सी चूक हुई कि रसातल गया! यह अड़ीला भी बड़ा है। कहीं अड़ गया तो होश ठिकाने कर देगा।

देख, बाग मोड़ले, इस मार्ग पर हो आगे न बढ़। इसके दोनों ओर खाई-खन्दक हैं। तू तो उस तङ्ग गली से जा। रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा अवश्य है, कङ्कड़ीला भी है। काँटे भी बिछे मिलेंगे। पर डरना मत, साहस न छोड़ना, चले ही जाना, बहादुर सवार! जब तेरा यह मस्त सैलानी घोड़ा हाँफने लगे, पसीने से तर हो जाय, अपनी सारी कूद-फाँद भूल जाय, तब उतर पड़ना। बस, वहीं सफ़र पूरा हुआ समझना। तू अपना लक्ष्य-स्थान पा लेगा। उसी स्थान पर तुझे 'स्थैर्य' प्राप्त होगा। सुना है, उस स्थैर्य को स्थितप्रज्ञों ने 'ब्राह्मी-स्थिति' का नाम दिया है।

# भठियारिन

क्या कहा, कि यहाँ किराया नहीं देना पड़ता ? ठीक; पर क्या तू मुझे यह भी समझा सकेगी कि इस सराय में किसी तरह की चोरी तो नहीं होती ? मैं किराया देने को तो तैयार हूँ, पर दग़ाबाज़ चोरों के जाल में फँसने को राज़ी नहीं। यहाँ काफ़ी उजेला भी तो नहीं। कौन जाने, कहाँ चोर-डाकू छिपे हों। इस दुरंगी सराय में मुझे जहाँ देखो तहाँ मक्कारी-ही-मक्कारी देख पड़ती है।

वाह, यहाँ तो गाने-बजाने का, नाच-रंग का, हँसी-दिल्लगी का और खेल-कूद का भी सामान इकट्ठा कर रक्खा है। और वह भी सब बिना दाम ! अवश्य इसमें कुछ-न-कुछ भेद है। क्या तू मुझे इसका भी कारण बतला सकेगी, कि यहाँ से जो मुसाफ़िर जा रहे हैं वे चुपचाप नीचे को देखते हुए, बोझ के मारे दबे-से, क्यों दिखायी पड़ते हैं। स्मरण तो कुछ ऐसा आ रहा है कि यहाँ, शायद, मैं भी दस-बीस बार ठहर चुका हूँ। काली-काली दीवारें, यह पुरानी छतें और यह दीमक-खाये फटे बिस्तरे ही बतला रहे हैं कि मैं यहाँ कई बार आया-गया हूँ। जो हो, अब की बार यहाँ ठहरने का नहीं।

आज मैं फक्कड़ हो कर भी किसी धन-कुवेर से कम

नहीं। नंग-धुड़ंग हूँ, पर किसी इन्द्र से कम नहीं। मेरे पास चार रोटियाँ हैं, थोड़ा सा चना-चबैना है, एकाध पैसा गाँठ में भी है, तो क्या यह सब, भठियारिन, तेरे भुलावे में आकर लुटवा लूँगा? मुझे जाने दे। मैं तेरे आदर-सत्कार को, तेरी मेहमानदारी को, दूर से ही हाथ जोड़ता हूँ। दया कर मेरा पिण्ड छोड़ दे। मैं किसी पेड़ के ही नीचे पड़ रहूँगा; किसी न किसी तरह एक रात काट लूँगा, पर इस सराय की भूल-भुलैयों में आने का नहीं।

# अग्नि-उद्‌गार

# वीरभोग्या वसुन्धरा

भगवत वसुन्धरे ! तुझे क्या यह भोगेंगे ! जिनको अपना फूल-सा जीवन ही भार प्रतीत होता है, जिनकी फ़ौलादी नसें ढीली पड़ गयी हैं, जिनके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी दिखायी देती हैं, जिनकी आँखें तिलमिला गयी हैं, जिनका हृदय पटाखे की आवाज़ से ही धड़कने लगता है, जिनकी किसी समय की रण-कङ्कण-मण्डित कलाई आज केवल घड़ी बाँधने के ही योग्य रह गई है, जिनकी उँगलियाँ कलम पकड़ने में भी काँपा करती हैं, क्या वे तेरे हिम-शिखर-मण्डित मुकुट- विभूषित शुभ्र शीर्ष, विन्ध्य-भूषणालङ्कृत वक्षाङ्ग एवं सागर-विलोड़ित नीलचरण-कमलों के भोग-सुख के अधिकारी हो सकते हैं।

तुझे तो वही रण-बाँकुरे सुपूत भोग सकेंगे, जिन्होंने तुमुलयुद्ध में वीर माता का दूध पिया है, जिनका लालन-पालन मुण्डमाल-धारिणी धाय ने किया है, जो मारू बाजे के साथ लोरियाँ गा-गा-कर रणाङ्गण के पालने पर सुलाये गये हैं, शत्रुओं की अँतड़ियों की पगड़ियाँ बाँध-बाँध कर जिन्होंने केलि-कल्लोल किया है, जिनके कर-पल्लव सदा ही रक्त-रञ्जित रहे हैं, तोप की गड़गड़ाहट और तलवार की झनझनाहट में जिन्हें मृदंग और वीणा के ताल-स्वर का अनुभव हुआ है और जिन्होंने तेरी रक्षा करते हुए हृदय-वल्लभा मृत्यु-प्रणयिनी का सप्रेम

आलिङ्गन करना सीखा है।

माँ वसुधे ! इन कायरों को देख लिया न ? आज इन मूक पाषाण-मूर्तियों से तू जैसी कुछ भाराक्रान्त हो रही है, कदाचित् ही वैसी कभी हुई हो। ये वही हैं, जिन्होंने तुझ कपिला को, दान की बछिया की तरह, स्वयं ही विदेशियों और विधर्मियों के हाथ में सौंप दिया। ये वही हैं, जिन्होंने अपने जन्मजात अधिकार-कुसुमों को कुचल कर अपनी छाती पर परन्त्रता की सन्तप्त शिला हँसते-हँसते रख ली ! ये वही हैं, जिन्होंने तेरे उन्नत मस्तक पर से स्वधीनता का ताज उतार तुझे गुलामी की बेड़ियाँ पहना कर क़ैद करवा दिया ! ये वही हैं, जो क़ब्र में बैठे हुए भी बेशर्मी से अपने को जानदार कहने का दम भर रहे हैं ! आश्चर्य ! तू इन कायरों को अब भी अपने पुनीत अङ्क में बिठाये है !

इन परतन्त्र कठ-पुतलियों को तोड़ कर फेंक दे। प्रलयङ्करी ! इन कुपूतों से क्यों भाराक्रान्त हो रही है ? नपुंसकों का सर्वनाश करते क्या तुझे दया आती है ? इन मुर्दों को अङ्क में धारण कर क्या तू 'पुत्रवती' बनना चाहती है ?

वीर-भोग्ये ! इन कायर कामियों को तुरन्त ही रसातल भेज, इसी क्षण नरक में फेंक। इन्हें नरक भी, शायद ही, स्थान दे, क्या तू इसी चिन्ता में है ?

# चित्राङ्कण

कैसा चित्राङ्कण किया है, चित्रकार! तेरी यह सारी चित्रकारी लोक के लिए असामयिक, अनुपयुक्त और अहितकर सिद्ध होगी। जान पड़ता है, तेरे रङ्गों में चटक ही है, स्थायित्व नहीं; तेरी लेखनी में लचक ही है, बल नहीं। इसी कारण तू अपने प्रयासों में असफल हुआ है।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई! यह तो किसी रङ्ग-महल का चित्र जान पड़ता है। सजावट तो ख़ूब दिखायी है। गगनस्पर्शी गुम्बजों और कनक-कँगूरों की छटा सचमुच ही निराली और चित्ताकर्षिणी है। छज्जे क्या ही मनोमोहक हैं! इन झरोखों से क्या ये मदविह्वल चन्द्र मुखियाँ झाँक रही हैं? अच्छा! यह दरबार का दृश्य है। स्वर्ण-सिंहासन पर एक सुन्दर और सुकुमार राजा विराजमान हैं। ये कैसे राजा हैं! क्षात्र तेज तो इनमें लेशमात्र भी नहीं। अस्तु। पीछे छत्र तना हुआ है। आस-पास चाटुकार सरदार और मन्त्री हाथ जोड़े खड़े हैं। सामने एक लावण्यवती वाराङ्गना नृत्य कर रही है। उसके कुटिल कटाक्ष और ललित हाव-भावों पर दरबारी झूम-से रहे हैं। राजा साहब को तो कुछ होश ही नहीं। बेचारे मख़मली गद्दे पर लुढ़के पड़े हैं! एक हाथ में शराब का प्याला है और दूसरे में फूलों की गेंद। एक युवती तांबूल खिला रही है। तलवार पैरों के नीचे

दबी पड़ी है ! चित्र-कौशल तो तेरा, वास्तव में प्रशंसनीय है, पर है यह सब घृणित और विषाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय ? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़ कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उड़ेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। एक उजड़ा हुआ ग्राम बना। उसमें खँडहर और टूटी-फूटी झोपड़ियाँ हों। खेत और बाग़ झुलसे और उजड़े पड़े हों। एक ओर भीषण अग्नि धाँय-धाँय करती हुई जीभ लपलपा रही हो। जहाँ-तहाँ अत्याचार-पीड़ित पद दलित अस्थिकङ्काल पड़े हों। भूख के मारे नन्हे-नन्हे बच्चे माताओं की गोद में कलप रहे हों। लूट-खसोट और मार-पीट हो रही हो। सर्वत्र सर्वनाश का साम्राज्य हो। चित्रकार ! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा ? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्षस्थानीय दिया जायगा।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई ! यह तो किसी मानिनी नायिका का चित्र जान पड़ता है। कोप-भवन खूब बनाया है ! स्फटिक शिला पर एक मैली-सी सेज बिछी है। मानिनी उसी पर करवट लिये पड़ी है। सारा शरीर धूल-धूसरित है। केश खुले हुए हैं। अङ्ग पर एक भी भूषण नहीं, सब-के-सब इधर-उधर पड़े हैं। एक सहेली आप को पङ्खा झलती है और दूसरी हाथ पकड़े मना रही है। पतिदेव पैर पलोट रहे हैं ! पर श्रीमती मानिनी देवी उस बेचारे की ओर देखती तक नहीं ! ग़रीब स्त्रैण पर वज्र

टूट पड़ा है। अब मान-गढ़ ढहे तो कैसे ? चित्र-कौशल तो तेरा, वास्तव में, प्रशंसनीय है, पर है यह सब घृणित और विषाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय ? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़ कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उड़ेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। सबसे पहले एक शुभ्र मन्दिर बना। देख, उसके चारों ओर अग्निदेव प्रखर ज्वालाएँ उगल रहे हों। मन्दिर में एक प्रलयङ्कारिणी महाशक्ति प्रतिष्ठित हो। उसके ज्वलन्त नेत्रों से वह्नि-शिखा निकल रही हो। अट्टहास की मुद्रा हो। दाँतों में बिजली-सी कौंधती हो। हृदय पर लाल फूलों का हार पड़ा हो। साड़ी भी लाल ही हो। सारा शरीर रुधिर से लथपथ हो। केश पैरों तक लहरा रहे हों। एक हाथ अनाथ भक्तों के मस्तक पर हो और दूसरे हाथ में हो रक्त-रञ्जित कराल कृपाण। मन्दिर में अखण्ड देव और प्रचण्ड पराक्रम का साम्राज्य हो। चित्रकार ! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा ? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्षस्थानीय दिया जायगा।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई ! यह तो किसी सुरम्य उद्यान का चित्र जान पड़ता है। रचना तो खूब दिखायी है ! लहलही लताओं के मण्डप और गहगहे गह्वर के ग्रीष्म-भवन सचमुच ही अनुपम हैं। क्यारियों की छटा कुछ निराली है !

गमलों की सजावट देखने-योग्य है । माधवी-निकुञ्ज क्या ही मनोमुग्धकारी है ! कहीं डालों पर रङ्ग-बिरङ्गे पक्षी बैठे हैं," तो कहीं पंख फैलाये मोर नाच रहे हैं । इधर कुछ मनचले रसिक जन हिंडोलों पर झूल रहे हैं । उधर उस पद्मसरोवर में कुछ निर्लज्ज नवयुवक, मद-विभोर ललनाओं के साथ, केलि-कल्लोल कर रहे हैं ? अच्छा ! यह जल-विहार का दृश्य है । एक दूसरे पर जल छिड़क रहा है । कोई कमल की नली से पानी गुड़गुड़ा रहा है, तो कोई अर्द्धमुकुलित कलियों को तोड़-तोड़कर उछाल रहा है । माधवी-निकुञ्ज में गान-वाद्य भी हो रहा है । इस चित्र को देख कर रसिक-मण्डली अवश्य कह उठेगी कि चित्रकार ने क़लम तोड़ दी है । तेरा चित्र-कौशल है भी प्रशंसनीय, पर है यह सब घृणित और विषाक्त । इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय ? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़ कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उड़ेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल । तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच । एक सघन वन-खंड बना । वह प्रान्त पहाड़ी हो । वहाँ एक निर्मल नदी भी बहती हो । तीर के वृक्ष झुककर उसके सुनील जल से आचमन कर रहे हों । नदी के तट पर एक ओर हृष्ट-पुष्ट गायें पानी पीती हों, और दूसरी ओर छोटे-छोटे मृग-शावक नव दूर्वा टूँग रहे हों । समय प्रभात का हो । प्राची को लालिमा से रँग देना । इधर-उधर पक्षी उड़ रहे हों । कहीं ऋषियों और ब्रह्मचारियों का

स्नान-ध्यान हो रहा हो, तो, कहीं सन्ध्या-पूजा। कहीं स्वाध्याय होता हो, तो कहीं हवन। निर्धूम अग्नि-खण्ड के समान ब्रह्म-चारियों के मुख-मण्डल पर ज्वलन्त ओज दिप रहा हो। तपोधन ऋषियों के नेत्रों से शान्ति और आनन्द की धारा बहती हो। सारांश, सर्वत्र विश्व-प्रेम का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा ? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्ष स्थानीय दिया जायगा।

# आँख खोल

तू कैसा भारतीय उपासक है! पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा? उठ, आँख खोल। देख, प्रभात होने ही वाला है। यह ब्रह्म-वेला है। आत्मानुभूति की जन्म-भूमि यही वेला है। प्राची के अर्द्धविकसित सरल हास की ओर तो दृष्टिपात कर। क्या ही अनुपम आभा है! प्रकृति के शुभ्र दर्पण में अनुराग-रञ्जिता उषा की उद्भावना कैसी प्रतिबिम्बित हो रही है! धन्य है वह चतुर चित्रकार, जिसने अनन्त आकाश के प्रशान्त पट्ट पर यह दिव्य आलोक-रेखा अङ्कित कर दी है! विहग-कुल का सरस स्वर-समूह तो निराला ही है। इसी नाद-नदी के तीर्थ-सलिल में निमज्जन कर कवि की अन्तर्ध्वनि अपने को कृतार्थ मानती है। तनिक इस ध्यानावस्थित समीर की आराधना तो देख। ब्रह्म-वेला की ऐसी स्वर्गीय आराधना और किससे बनेगी? समीर की तरल तरङ्गों में ये परिमल-कण कैसा कल्लोल कर रहे हैं! कदाचित् इसी कल्लोल-कला में अदम्य उत्साह और अनन्त जीवन का निगूढ़तम रहस्य अन्तर्हित हो।

अहा! क्या ही मनोहर दृश्य है! आर्य-संस्कृति की पुनीत पताका क्या कभी फहराती देखी है? यदि नहीं, तो अब देख। यह किसी पुण्यसलिला तटिनी का तट है। स्वर्गानुमोदित कर्मभूमि का अभिषेक इसी जल से हुआ था। शब्दब्रह्म की

सुगेय गाथा इसी अनादि तरङ्गिणी की तरङ्ग-तन्त्री से प्रतिध्वनित हुई थी। वेद-वाणी को इसी तीर पर ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था। इन उपासकों की कैसी सरल और शुद्ध उपासना है! प्रथम प्रभात का दर्शन इन्हीं महात्माओं ने किया था। जीवन-संग्राम में इन आत्म-वीरों ने अभूतपूर्व विक्रम से विजय-वैजन्ती उड़ायी थी। विश्व-प्रेम का अमोघ मन्त्र इन्हीं विश्व-वन्द्य महापुरुषों के पाद-प्रच्छालन से मिलेगा, अन्यथा नहीं। अतएव उठकर एक बार प्रणतभाव से इनके चरणों पर श्रद्धाञ्जलि चढ़ा। ये प्रसन्न होकर तुझे 'ब्राह्मी स्थिति' का साक्षात्कार करा देंगे।

तू कैसा महाभारतीय सैनिक है! पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा? उठ, आँख खोल। देख, युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव-वेला है। क्रान्ति की काली-काली घटाएँ घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है! दनुज-दल-मर्द्दिनी रणचण्डी समर-भूमि पर ताण्डव नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उनके लोक-प्रकम्पन नूपुरों का छम-छम श्ब्द सुनायी नही देता? उद्भ्रान्त दिशाएँ थर-थर काँप रही हैं। ब्रह्माण्ड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव-जन्तु त्रस्त हो रहे हैं। प्रशान्त नभो-मण्डल के वज्रोपम वक्षःस्थल पर विप्लव की रेखायें खचित हो गयी हैं। थोड़ी ही देर में तेरे आस-पास नङ्गी तलवारें बिजली की तरह चमकने लगेंगी। सुना है, इन तलवारों पर पद-दलित दुर्बलों के गर्म आसुओं का विषाक्त पानी चढ़ाया

गया है ! ओह ! कितनी भीषण तोपें गम्भीर गर्जना कर धधकते हुये गोले उगलेंगीं ! उनका ब्रह्माण्ड-भेदी शब्द असहाय दीनों के आर्त्तनाद का रुपान्तर होगा । तेरे देखते-ही देखते यहाँ ज्वलन्त ज्वालामुखी फट पड़ेंगे । कहते हैं, उन अग्नि-गर्भ पर्वतों का निर्माण प्राणावशेष पीड़ित अस्थि-कङ्कालों की धुआँ-धार आहों से हुआ है ! कुसुम-कलिका से वज्रोत्पत्ति होगी !!

लो, शंख फूँक दिया गया ! रण-घोषणा कर दी गयी ! लाल झण्डे फहरा उठे । शिविर में हलचल मच गयी । कवच और शिरस्त्राण खड़खड़ाने लगे । अस्त्रागार की ओर कितने ही लोग दौड़े जा रहे हैं । कितनी मशालें बल रही हैं ! कोई किसी से बोलता नहीं । संकेत से ही बातें हो रही हैं लो, रण-वाद्य भी बजने लगा । अरे यह अग्निकाण्ड कैसा ? पूछना व्यर्थ है । इस घोर विप्लव में कौन किसकी सुनता है ? यह देख, अग्नि-मुख तोपें दुर्भेद्य दुर्गों को धराशायी करने की तैयारियाँ करने लगीं । उधर तलवारें भी कृतान्त की जीभों की तरह लपलपा रही हैं । वीर सैनिक कैसे झूमते हुए आगे बढ़ रहे हैं । उनका हुङ्कार दिशाओं को चीरे डालता है । इन्हीं सर्वस्व-त्यागियों ने प्राणों का मूल्य जाना है और तू ? धिक्कार है तुझे, जो अब भी बिछौने पर करवट बदल रहा है ।

# आक्रान्त वसुन्धरा

वसुन्धरे ! तू न मानेगी ? तेरी लाल-लाल विकराल आँखें किसे टक लगाये देख रही हैं ? क्या तू आज अपने छोटे-छोटे बच्चों पर रुष्ट है ?

'संभव है, तू उनकी निर्जीव बाल-क्रीड़ा देखते-देखते ऊब गयी हो। आज तू उनकी, कच्चे दूध के समान, भोली-भाली चितवन पसन्द नहीं करती; कदाचित् तुझे उनकी रुधिर-वर्षिणी भयङ्कर दृष्टि देखनी है। तभी तो आज तू उनके हाथ में खिलौने नहीं दे रही है। इतनी भीषणता क्यों ? जिन बालकों को तूने सैकड़ों बरसों से माधुर्य के हिंडोले पर झुलाया, सुकुमारता के पालने में सुलाया, वे आज तेरे साथ कैसे क्रान्त क्रीड़ा कर सकेंगे ?

उनका रक्त वीर आर्यों का है, उनका पालन-पोषण प्रकृति-देवी ने किया था, उनकी अर्द्धोन्मीलित आँखें रणाङ्गण में बन्द हुई थीं, पर आज वे अपने आपको भूलकर कृत्रिम सभ्यता-रमणी के गुलाम हो रहे हैं, उनके ओजस्वी नेत्रों से कामोद्दीपक मद्य छलक रहा है, जटा-जूट के स्थान पर तैल-रंजित छल्लेदार बाल चमक रहे हैं ! जिनकी छाती पर लोहे के कवच बँधे रहते थे, आज वहाँ फूलों के हार भी भार-से मालूम होते हैं। जिनकी कलाइयाँ फ़ौलाद की बनी हुई थीं, जिन पर रण-

कंकण बाँधा जाता था, आज वे नाज़ुक दिखायी पड़ती हैं और रण-कंकण के स्थान पर रिस्ट-वाच नज़र आ रही है! जिनका सुकुमार हाथ छड़ी के उठाने पर बल खा रहा है, भला वे तेरे साथ क्या खेलेंगे ?

समझ पड़ता है, अब तू शान्त होने की नहीं। माँ, अपने वक्षस्थल पर क्या इन कायरों का दुर्वह भार तुझे असह्य नहीं हो रहा है ? क्या आज तू बार-बार अपने वीर सुपूत परशुराम का स्मरण न कर रही होगी ?

यह क्लीब कुपूत, माँ! अपनी पौरुषहीन आँखों से सर्वनाश की लीला देख रहे हैं! तेरी छाती पर आततायियों का तांडव-नृत्य देखते हुए भी इनकी आखों से ख़ून नहीं टपकता! यह मृतप्राय अपने श्वास-प्रश्वास को 'जीवन' का नाम दे रहे हैं! धिक्कार!

जिनके स्तनों से इन्होंने सहस्त्रों वर्ष दूध पिया, जिसके अङ्क में बैठ कर पुरुष और प्रकृति के गूढ़तम रहस्य प्रत्यक्ष किये, जिसके वात्सल्य-संकेत द्वारा इन्हें निर्वाण-सुख प्राप्त हुआ, जिसकी शक्ति से इन्होंने बड़े-बड़े वीरों को थर्रा दिया, आज यह उस मातृ-भूमि को क्या अपना एक चुल्लू भर उष्ण रक्त भी न पिला सकेंगे ? पर, तू तो सदा वीर पुरुषों का ही पवित्र रक्त-पान करती है। इन कायरों का कलुषित रक्त, इन कामियों का गंदा ख़ून, भला तू क्यों पीने चली ?

पर नहीं, तू यही ख़ून पियेगी, इनकी मलिनता को अपनी

पवित्र वात्सल्य-धारा से ही पखारेगी, इनकी कायरता का नाश करेगी।

# बे-सुरी तान

क्या बेसुरी तान छेड़ी है, गायक ! जान पड़ता है, तू देश-काल-परिस्थिति से बिलकुल ही बेख़बर है। जिस कुञ्ज-कुटीर में बैठा हुआ तू, वीणा की सरस स्वरावली में, विहाग राग अलाप रहा है, क्या उसके पार्श्व में तुझे प्रलयङ्कारिणी भीमा भैरवी का भीषण हुङ्कार नहीं सुनायी देता ? यदि वह क्रान्तिकारिणी एवं शक्ति-सञ्चारिणी रागिनी तेरे हृदय पर ताण्डवनृत्य कर जाती, तो आज तेरे प्रकम्पित कण्ठ से उन्मत्त आलाप की यह मन्द धारा प्रवाहित न हुई होती !

तेरे गीतों की शब्दावली भी असामयिक असंगत और अनर्थकारिणी जान पड़ती है। तू ही बता, यह समय क्या नायक-नायिकाओं के हाव-भाव-भरे गीतों के गाने का है ? इन गीतों के शब्द कहीं गुलाबी गालों पर फिसल रहे हैं, तो कहीं अमी-हलाहल-मद-भरी कटोरियों में उछल-कूद मचा रहे हैं ! कभी भौंह की कमान पर उतरते-चढ़ते हैं, तो कभी मिश्री-जैसी मुसकराहट चूसने लगते हैं। अरुण अधर-पल्लवों पर थिरकना और काले सटकारे केशों में बँध जाना तो ग़रीबों का रोज का काम है। कङ्कण-किङ्किणि की झीनी झनकार सुनते-सुनते तो बेचारे इतने सुकुमार और नाज़ुक मिज़ाज हो गये हैं कि अब उनके आगे रणभेरी के गम्भीर नाद की चर्चा करना

काल के अट्टहास से कम नहीं। क्या इस वारुणी-विभोर शब्दावली को तू क्रान्त नहीं कर सकता? क्या इन भ्रष्ट रंग-शालाओं, खसखानों, फौवारों, और गुलदस्तों को तेरे गीत दिव्य शक्ति-मन्दिरों, बलिवेदियों, वीर-वाणियों और वज्रों में परिणत नहीं कर सकते? यदि नहीं, तो तोड़ डाल इस कलङ्किनी वीणा के तार, मत छेड़ यह बे-सुरी तान।

यह असङ्गति नहीं, तो क्या है? एक ओर खण्डहरों में पड़े नङ्ग-धुड़ङ्ग आर्त्त अस्थि-कङ्काल 'भूख-भूख' चिल्ला रहे हैं, दूसरी ओर सुसज्जित महलों में मखमली गद्दों पर प्याले पर प्याले ढल रहे हैं और उन्मादिनी रागिनी छेड़ी जा रही है! एक ओर रोमाञ्चकारी सर्वनाश की भयावनी काली छाया हमारे अदृष्ट पर पड़ रही है, दूसरी ओर वाग्भ्रष्ट शब्द-चित्रकार अश्लील चित्र खींच-खींच छबीली कामिनी की लचीली लङ्क और रँगीली-रसीली आँख पर मर रहा है! इधर महाशक्ति भैरवी सुनने को उत्कंठित खड़ी है, उधर पाटल की पँखुड़ियों पर थिरकते हुए सुकुमार समीर-द्वारा प्रकम्पित वसंत राग विलासियों के निर्जीव हृदय में नारकीय कामोद्दीपन कर रहा है!

गायक, स्वर-साम्य क्या भूल गया है? यदि नहीं, तो फिर विश्व-वेणु के स्वर में स्वर क्यों नहीं मिलाता? उस अलाप में मस्त क्यों नहीं हो जाता, जिससे आत्मा में अनन्त जीवन-दायिनी दिव्य शक्ति का सञ्चार होता है? वह गगनभेदी शङ्ख

क्यों नहीं फूँकता, जिसके गम्भीर नाद ने किसी समय प्रेय और श्रेय, एवं जीवन और मरण के समन्वय का विश्वव्यापी सन्देश संसार को सुनाया था ?

क्या उस गम्भीर नाद का ध्यान करते डर लगता है ? अवश्य लगता होगा। आज वह कंठ कहाँ, वह कान कहाँ, वह हृदय कहाँ ? सर्वनाश हो इस उन्मादिनी रसिकता का, इस निर्जीव विलासिता का, इस पिशाचिनी क्लीवता का। गायक, तेरा गीत, तेरा शब्द-चित्र और तेरा स्वर-समूह प्रतिक्षण मृत्यु का आह्वान कर रहा है। सुन, इस स्वरावली की प्रतिध्वनि कैसी डरावनी है ! अपना भला चाहे, तो अब भी इस बे-सुरी तान का छेड़ना बन्द कर दे।

# क्लैब्यं मास्म गमः

अरे, पहचाना नहीं। धोखा खा गया! मैं समझ बैठा था कि तू भी एक स्वत्वप्रिय मनुष्य है, तू भी समाज का अङ्ग है। आकृति से तो तू निस्सन्देह मनुष्य-सा ही प्रतीत होता है, किन्तु तेरी आत्मा उन उदात्त उपादानों से बिल्कुल ही पृथक् देख पड़ी, जिनका समाहार 'मनुष्य' कहा गया है। फिर तेरा व्यक्तित्व समाज के किस काम का? तेरी सजीवता मानव-जाति के किस अर्थ की?

भारी भूल हुई। व्यर्थ ही मैंने इस घंटे में तुझे जगा दिया! तेरी फूलों की मुलायम सुगन्धित सेज व्यर्थ ही बिखेर दी! तेरे गुलाब के गजरे यों ही पैरों से कुचल डाले! तेरे काँपते हुए कमजोर हाथ में इसलिये इस शक्ति की प्रतिष्ठा की थी कि तू मदिरा का प्याला फेंक कर गरम-गरम लाल शरबत से अपने फीके ओंठ रँगे। पर कुछ न हुआ। तेरा नाजुक हाथ फिर उसी प्याले पर पहुँच गया! अपनी समालिंगित प्रेयसी के कटाक्ष-बाणों से बिधता हुआ तू फिर उसी फूलमाला को उछालने लगा। थोड़ी देर में जब तेरी मतवाली रँगीली आँख उस महाशक्ति पर गयी, तू मारे भय के थर थर काँपने लगा। रमणी के अंचल में मुँह छिपा लिया, और लगा पल-पल पर चौंकने! मुझे हँसी आ गयी। साथ ही दो बूँद आँसू भी

गिर पड़े। धिक्कारते हुए तुझ से कहा, अरे क्लीब! क्या पृथिवी पर और भी एकाध घड़ी जीना चाहता है?

सचमुच ही मुझ से बड़ी ग़लती हुई। व्यर्थ ही मैंने तुझे रङ्गशाला से खींच कर इस बीहड़ मैदान में खड़ा कर दिया था। जिस समय क्रान्ति का दिगन्तव्यापी शंख-नाद तेरी रंग-शाला में प्रतिध्वनित हुआ, उस समय तू मख़मली गद्दे पर बैठा मदविह्वला नर्त्तकियों की नृत्य-कला देख-देख कर स्वर्गाधिक सुख लूट रहा था। उनकी किंकिणी और नूपुर की झनकार तेरे विलास-विभोर अन्तस्तल को निष्प्राण-सा करती जाती थी। और तेरी आत्मा उस रंग-शाला की मायामयी यवनिका से टकरा कर खंड-खंड हो रही थी। गंभीर शंख-नाद में सरंगी और तबले का स्वर-ताल विलुप्त-सा हो गया। नर्त्तकियाँ मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ीं। मारे भय के तेरी भी आँखे बन्द हो गयीं। उद्दाम विलास की समग्र सामग्री लतिया कर मैंने तुझे बाहर खींच लिया। अब तू एक मैदान में खड़ा कर दिया गया। यह वह मैदान था, वह उजड़ा हुआ बाग़ था, जहाँ दूर तक खंडहर-ही-खंडहर दिखाई देते थे। उन में जहाँ-तहाँ भूखे-प्यासे अनाथ छटपटा रहे थे। एक ओर एक तेजीस्वनी वृद्धा छाती पीटती हुई बिलख-बिलख कर रो रही थी। उसके हाथ-पैर जंजीरों से जकड़े हुए थे। छाती से रक्त बह रहा था। वस्त्र रुधिर से लथपथ थे। खुले हुए केश धूल से सने थे। नेत्रों से प्रलयकारी चिनगारियाँ निकल रही

थीं। इतनी सब दुर्दशा होने पर भी उस त्रिलोक-वन्दनीया देवी का रूप बड़ा ही दिव्य और शान्त था। तुझे देखते ही वह मृतप्राय साध्वी और फूट-फूट कर रोने लगी। उसके पास रक्तरंजित अस्त्र और वाण-विद्ध कवच पड़ा था। उधर देखते ही तूने आँख बंद कर ली। इतना ही नहीं 'प्राणप्यारी, प्राण-प्यारी' चिल्लाता हुआ तू अपनी उसी रंगशाला की ओर तेज़ी से भागा। उस नारकीय क्रीड़ास्थली में तू फिर उसी तरह मतवाला हो नाचने-कूदने लगा! तेरी इस नपुंसकता पर बार बार धिकारते हुए मैंने गंभीर गर्जना के साथ कहा कि, अरे निर्जीव! क्या तुझे कहीं डूब मरने को एक चुल्लू पानी भी नहीं मिलता?

तेरी पुरुषार्थ-हीनता एक नहीं अनेक स्थलों पर देख चुका हूँ। कभी तो तू विश्व-प्रेम का ढकोसला रचता है, और कभी दया वा धर्म की ओट लेता है। कभी तू लेखनी के बल से शान्ति का मान-चित्र खींचना चाहता है और कभी मौखिक शब्दाडम्बर से ईश्वर-भक्ति एवं आत्मानुभूति की क्लिष्ट कल्पना करने लगता है! पर तेरी कथनी और करनी में सदा आकाश-पाताल का अंतर रहता है। क्लीब है न! सच बात तो यह है कि तू अपनी विलासिता और निर्जीवता अक्षुण्ण रखने के लिये ही यह सारा पाखण्ड-प्रपंच प्रणीत किया करता है।

सुन! कैसा भीषण हुंकार है! देख, कैसा प्रलयकारी दृश्य है! उठ, डर मत। खड़ा हो जा। सुन! तेरे सामने कौन यह

निर्धूम अग्नि-खण्ड के समान प्रज्वलित शब्द अंकित कर रहा है ! अहा ! कैसे प्राण-संचारी चित्र हैं !

'क्लैब्यं मा स्म गमः !

क्लैब्यं मा स्म गमः !!'

# स्वाधीनता का यज्ञ

"यह 'स्वाहा स्वधा' का शब्द कहाँ से आ रहा है ? सरस्वती का तट तो यह है नहीं। यह तपोभूमि भी तो नहीं है। यह ऋषियों और अग्निहोत्रियों का पुण्याश्रम भी नहीं है, फिर यह पवित्र प्रतिध्वनि किधर से आ रही है ? ऐसा शब्द तो यज्ञ-शाला से ही उठा करता है।"

"किन्तु इस युग में यज्ञ का आयोजन कैसे हो सकता है ? जिस देश में 'भूखे भक्ति न होइ 'गोपाला' लोकोक्ति व्याप्त हो रही है, जहाँ पर धान्य और गोरस स्वप्न के धुँधले चित्रों में योग दे रहे हैं, जहाँ के पतित निवासियों का धार्मिक जीवन तिरस्कृत हो अन्तर्हित होता चला जा रहा है, और जहाँ की टिमटिमाती हुई आत्मिक ज्योति भी बुझना ही चाहती है, वहाँ यह कल्पना करना कि यह शब्द यज्ञ-शाला से प्रतिध्वनित हो रहा है, भ्रम नहीं तो क्या है ?"

"फिर है क्या ?"

"वही—यज्ञ-मंडप का शब्द।"

"किस यज्ञ का ?"

"एक निराले यज्ञ का।"

"नाम ?"

"स्वाधीनता का यज्ञ।"

उसकी वेदी बड़ी ही भीषण है। उसके ऋत्विज वही हो सकते हैं जो स्वार्थ के शत्रु, इन्द्रियों के शासक, स्वतंत्रता के उपासक और जातीयता के प्रकाशक हों। उस हवन-कुँड में असंख्य वीर-मुण्डों की आहुति दी जाती है। सैकड़ों लाल अपनी माँ की गोद सूनी करके आप से आप उस कृतान्त-कुण्ड में कूद पड़ते हैं। सहस्रों युवक अपनी प्राणवल्लभा का प्रेम-पाश तोड़कर उस ज्वाल-माला को हृदय पर धारण करते हैं।

"यह सब किसलिये?"

"यज्ञ-देवता के प्रीत्यर्थम्। सुना है कि इन आहुत वीरों के रक्त के एक-एक बूँद से सहस्र-सहस्र वीर-पुङ्गव उत्पन्न होंगे। वे कृत्रिम सभ्यता को दबोच कर पैर के तले कुचल देंगे, पराधीनता को पापड़ की तरह चबाकर अन्याय को मसल देंगे, अत्याचार को पद-दलित कर स्वाधीनता की बांसुरी बजायेंगे!"

"तथास्तु।"

# मदान्ध

मदान्ध ! ज़रा आँख तो खोल । देख, यह क्या हो रहा है ? तेरा यह सुसज्जित प्रासाद जलकर भस्म होना ही चाहता है । आग लग गयी—अब बुझने की नहीं । आश्चर्य, तू अब भी मख़मली गद्दियों पर करवट बदल रहा है ! मुलायम तकियों को छाती से लगाये मस्त पड़ा है ! तुझे अपने सर्वनाश का तनिक भी ख्याल नहीं ?

तूने आज तक किया क्या ? यही न, कि सच्चे रत्नों का हार खूँटी पर टाँग कच्चे काँच के टुकड़े अपने आभूषणों में जड़वाये, आर्य-सभ्यता को ताक पर रख विदेशी चाल-ढाल को अपनाया, ग़रीब किसानों के झोंपडे फूँक कर अपने महल में ऐयाशी के सारे सामान इकट्ठा किये, कंकाल-शेष भूखी-प्यासी प्रजा का रक्त चूस-चूस कर नर्त्तकियों के हाव-भावों का शिकार बन, प्याले पर प्याले ढाले और सियारों की तरह दुम दबा कर अपने नाम के साथ 'सिंह' शब्द को भी लजाया ? क्या तू ने कभी कलपते हुए किसानों और पिसते हुए मज़दूरों के करुण-क्रन्दन को सुनकर गान-वाद्य की ओर से अपने कान हटाये हैं ? क्या तू ने कुरंगाक्षी कामिनी के कुटिल कटाक्षों को भुला कर पीड़ित प्रजा की डबडबाती आँखों पर तरस खाया है ? क्या कभी शक्ति और स्वतन्त्रता के आगे तू ने भोग-

विलासों को ठुकराया है ? क्या तू ने मछलियों और चिड़ियों का शिकार छोड़ कर कभी प्रमत्त केसरी का भी हृदय चीरकर तप्त रुधिर-पान किया है ? क्या तू ने चाटुकारों, धूर्तों और लंपटों के अतिरिक्त कभी धर्म, जाति या देश के नाम पर भी एक पैसा फेंका है ? कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं।

फिर इन कुकर्मों का फल तू यह चाहता है कि "प्रजा मुझसे प्रेम करे, मुझ पर कट मरे, मैं क्षत्रिय कहलाऊँ, लोग मुझे धर्म-धुरन्धर युधिष्ठिर कहें, दानवीर कर्ण कहें, सत्यवीर हरिश्चन्द्र कहें ?" रहें झोपड़ी में, ख्वाब देखें महलों के! कहीं प्रजा-पीड़क भी राज-भक्ति की आशा कर सकता है ? कायर भी 'क्षत्रिय' बनने का दावा करेगा ? कहीं चरित्रभ्रष्ट भी युधिष्ठिर कहा जा सकता है ? लोलुप और झूठे भी क्या कर्ण और हरिश्चन्द्र हो सकेंगे ? अरे ! राम का नाम लो।

मदान्ध ! अब तेरा सुख-स्वप्न समाप्त हुआ। कुछ देर बाद तेरा प्रासाद भस्मावशेष रह जायगा। भोग-विलास की समग्र सामग्री धुएँ के साथ उड़ जायगी। इन मखमली गद्दियों और तकियों में काँटे चुभने लगेंगे। कुरंगाक्षी के कटाक्ष पैने भालों में परिणत हो जायँगे। ललित ललनाओं के भ्रू-विक्षेप में मृत्यु का संकेत दिखायी देगा। प्राणवल्लभा की मधुर मुसकान में कराल काल का अट्टहास देख पड़ेगा। और इन प्यालों में घुला मिलेगा ज़हर। ग़रीबों की लम्बी आह तेरी सुरीली वीणा को बेसुर कर देगी, उनके जिगर के जलते फफोले

तेरी रँगीली फुलवाड़ी को ख़ाक कर देंगे। ग़ाफ़िल ! जिसे तू इन्द्रलोक समझ बैठा है, थोड़ो ही देर में वह स्मशान बन जायगा; जिसे तू स्वर्ग मान बैठा है, घड़ी भर में वह नरक हो जायगा।

# भीषण बाढ़

"सावधान ! सावधान !!"

"क्या है, भाई ?"

"देखते नहीं, दुनिया में उथल-पुथल करती हुई भीषण बाढ़ इधर बढ़ती आ रही है ?"

"बाढ़ ! किस नदी की बाढ़ ? इन दिनों बाढ़ कहाँ से आयी भाई ?"

"आँख खोलो। पड़े-पड़े बर्राने से काम न चलेगा। वह किस नदी या तालाब की बाढ़ नहीं है। इन दिनों—उन दिनों की बात छोड़ो।"

"फिर आख़िर वह है क्या बला ? कुछ कहोगे भी ?"

"हाँ ! वह करालकाल की भयङ्कर बाढ़ है। उसका वेग मन से भी अधिक प्रबल है। सुना है, वह संसार का काया-कल्प करती आरही है। उसने अमरपुर-जैसे नगरों के गगन-चुम्बी सुरम्य प्रासादों का खण्डहर बनाकर छोड़ा है। जिन रङ्गशालाओं में मत्त गजगामिनी बालाओं का कङ्कण-किङ्किणि-झणत्कार विलासियों को उन्मत्त बना देता था, वहाँ अब रोमाञ्चकारी शृगाल-रोदन ही निशीथ में सुनायी देता है। नन्दन वनों का तो उसने नाम-निशान तक नहीं छोड़ा। आज, न तो वहाँ रङ्ग-बिरङ्गी क्यारियाँ ही हैं, और न रसाल की डाल पर

कोकिल की कुहूक-ध्वनि ही। सारा राजसी ठाट-बाट उसने मिट्टी में मिला दिया है। वीणा और मृदङ्ग इधर से उधर लुढ़कते फिरते हैं। चौसर के पाँसे और मदिरा के प्याले न जाने क्या हुए! इत्र की शीशियाँ इधर-उधर टूटी-फूटी पड़ी हैं। चित्र-विचित्र कमरों में कुत्ते भोंकते हैं। और छतों पर चमगादड़ों का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया है! संगमरमर की चौकियों और मख़मली गद्दों का तो कुछ पता भी नहीं। बाढ़ है या दानवी! हत्यारी ने देवालय और धर्म-ग्रन्थ तक नहीं छोड़े। कराल दाढ़ों के नीचे जो आया, चबा गयी!

सावधान हो जाओ। उठो। बिस्तर छोड़ो। औरों को भी उठा दो। सबसे पहले प्रसुप्त विलास-विभोर कामियों को जगाओ। निर्दयतापूर्वक उनके हाथ से शृङ्गार-मञ्जूषा छीन कर फेंक दो। उनकी बकुल-मालाएँ और कुसुम-कङ्कण कुचल डालो। वीणाएँ तोड़-ताड़ कर लतिया दो। जैसे बने तैसे शीघ्र ही उन कामान्धों को चन्द्रमुखियों के बाहु-पाश से छुड़ा कर अलग कर दो।

दौड़ो, सचेत कर दो उन पुरानी लकीर पीटनेवाले कूप-मण्डूक धर्मदम्भियों को। उनके आडम्बर-मण्डित ग्रन्थों को फेंक दो। हिचकते क्या हो? ऐसा करने में कोई पाप तो है नहीं। सड़े-गले खोखले धर्माडम्बर को दूर कर देना ही अच्छा है। उन बकध्यानी धर्म-जन्तुओं को तुरन्त ही उनके पतित आराधना मन्दिरों से हटा लो।

निर्जीव साहित्य पर माथापच्ची करनेवाले कुकवियों और साहित्य-रसिकों को भी सजग कर दो। नखशिख॰ और नायिका-भेद के कीचड़ से खींच लो उन बेचारों को। उन सचक्षु अन्धों को इस उथल-पुथल की ख़बर ही क्या होगी!

चन्द्रानना ललनाओं के लावण्यमय अङ्ग-प्रत्यङ्ग निरखते-निरखते ही उनका जीवन बीता है। कटि की कृशता वा सूक्ष्मता का निरूपण करने में ही उन काव्य-कलाधरों ने अपनी विमल बुद्धि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिचय दिया है। पीन पयोधरों और विकट नितम्बों के दुर्गम उत्तुङ्ग शृङ्गों पर ही उनकी अभागिनी आँखें टकराती फिरी हैं। उनकी दशा बड़ी ही दयनीय है। उनका बज्रोपम हृदय पिशाचिनी विलासिता ने खंड-खंड कर डाला है। समय की इस बाढ़ में, न जाने, उनका क्या हाल होगा। हा! अनोखी उपमाएँ और अनूठी उत्प्रेक्षाएँ मन की मन ही में रह जायँगी! इस हलचल में बेचारों का नख-शिख-वर्णन, भला, कौन सुनेगा? नायिका-भेद की बारीकियाँ तो पहली ही लहर में साफ़ हो जायँगी। जाओ, उनकी थोथी पोथियों को अब भी चीर-फाड़ कर समुद्रसात् कर दो।

भाई! धन-कुबेरों और सत्ताधारियों को भी सावधान कर देना। उच्चवंशीय महज्जनों को भी एक थप्पड़ जमाकर जगा देना। न्याय के नाम पर सत्य की हत्या करनेवाले न्यायाधीशों को भी, हाथ पकड़ कर, हटा लेना।

दौड़ो, बाढ़ आने के पहले ही उन सबों को सावधान

कर दो। ख़बरदार ! बाढ़ के प्रतिकूल न जाना, न जाने देना। उसके अनुकूल चलोगे तो बच जाओगे, नहीं तो नहीं। जाओ, अपना कर्त्तव्य-पालन करो। तुम्हें यह सब करना ही होगा। न करोगे, तो ज़बरदस्ती—

'प्रकृतिस्त्वां नियोज्यति !'

उठो, भागो। बाढ़ की घोर गर्ज्जना कानों को फाड़े डालता है। आकाश का हृदय कम्पित हो उठा है। ओह ! यह दूसरा महाप्रलय तो नहीं है !

# फ़क़ीर की बाँसुरी

जो काम लाखों सिपाही और उन्हें कमाण्ड देनेवाले बड़े-बड़े शूरवीर सेनापति पूरा नहीं कर सकते; उसे एक सच्चा शहीद, एक मस्त फ़क़ीर, सहज ही अपनी बाँसुरी बजाकर आन की बान में पूरा कर डालता है। उसकी बासुरी कहाँ बजती है? उसकी सुरीली ध्वनि, कहाँ से कहाँ तक जाती है? सुनते हैं, उसकी बाँसुरी आधीरात के अँधेरे में उसके उत्क्रान्त अन्तस्तल से फूंकी जाती है और देश पर बलि हो जानेवाले नवयुवकों की नाड़ियों में प्रतिध्वनित हो लोकत्रय में गूँज उठती है। उसके स्वर सत्ता को थरथरा देते हैं, जुल्म का अन्त कर शान्ति में लीन हो जाते हैं। बैंड के बड़े-बड़े ढोल, तलवारों और संगीनों की खड़खड़ाहट या तोप के गोलों की तड़तड़ाहट आप से आप इस बाँसुरी के आगे खामोश हो जाती है। संसार में कइयों ने उस सुरीली बाँसुरी को सुना था, जिसे सुनकर अन्धे अधिकारी बहरे और गूँगे हो गये थे। बाँसुरी के फूँकनेवाले लटकाये गये, जीते ही जलाये गये, किन्तु उनकी वज्रोपम हड्डियों से, उनकी तीर्थ-तुल्य क़ब्रों से वही आज़ादी के स्वर बराबर निकलते रहे, मर-मिटनेवालों की धमनियों में दौड़ते रहे, न्याय का संदेश सुनाते रहे।

उन दिनों यहाँ भी कुछ ऐसा ही दृश्य दिखाई दिया। यहाँ भी सुषुप्तावस्था के सन्नाटे में, कुछ ही दिन हुए, एक फ़क़ीर ने बाँसुरी फूँकी थी। उसे सुनकर जो जहाँ बैठा था, उठ कर उस मस्त शहीद के पास दौड़ा गया, तन-बदन की किसी को सुध-बुध न रही। बाप ने लड़के को, लड़के ने बाप को छोड़ दिया, किसी ने राजसी ठाट-बाट ठुकरा दिया, तो किसी ने अपने आलीशान महल में ही आग लगा दी। उसकी बाँसुरी सुनने के लिए, भला, किस के दिल में बेकली न होती ?

फ़क़ीर एक पेड़ के नीचे नङ्ग-धुड़ङ्ग खड़ा था। वहीं, आस पास,ये लोग जाकर खड़े हो गये। बाँसुरी बराबर बज रही थी। उसकी मीठी तान ने लोगों को क्या से क्या कर दिया, कह नहीं सकते। बाँसुरी के स्वरों में एक ही राग था, एक ही तान थी, और वह थी "स्वतन्त्रता की पुकार।"

ख़ासी समा बँध गयी। बड़ा असर हुआ। सभी अपनी-अपनी बाँसुरी मोहन के साथ फूंकने लगे। सब बाँसुरियों में साम्य था, सब की उँगलियाँ एक साथ ही उठतीं और एक साथ ही गिरती थीं। सब में से स्वतन्त्रता की पुकार ही निकलती थी। यह स्वप्न नहीं था; इतना सच्चा था, है और रहेगा, जितना कि दिन के बाद रात और रात के बाद दिन।

स्वतन्त्रता की पुकार अनन्त आकाश में गूँज उठी। उसने क्या किया, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इतना कह देना अनावश्यक भी न होगा कि उसने हम लोगों की आत्म-शुद्धि

करके हमें सदा के लिए उस पंथ का पथिक बना दिया, जहाँ होकर हमें अपने लक्ष्य स्थल पर पहुँचना है, अपने उजड़े हुए बाग़ में फिर से आजादी के साथ चहकना है।

# कैसे आ गये?

कैसे आ गये हमारे खेलने के आँगन में? हमारी यह विनोद-स्थली, एक दिन, आनन्द की जन्म-भूमि मानी जाती थी। प्रेयऔरश्रेय का यहाँ प्रतिदिन मिलन होता था। हम यहाँ खूब हँसते-बोलते, मिलते-जुलते और खेलते-कूदते थे। हमारे प्रत्येक खेल में सत्कल्पना, सरलता, सुन्दरता और भव्य भावना झलकती थी। राग और द्वेष का तो हमने कभी नाम भी न सुना था। इस अभागे आँगन को हमने, चन्द्र-ज्योत्स्ना की धवल धारा से धोकर, स्फटिक-सा शुभ्र बना दिया था। यहाँ हम कभी नवविकसित कुसुम-कलियों की मालाएँ गूँथ-गूँथ कर पहनते थे, कभी ओस की तरल बूँदों को कमल-तन्तुओं में पिरो-पिरो कर अपनी उलझी हुई अलकों पर लटका लेते थे, कभी स्मित चन्द्र-बिम्ब की गेंद बनाकर उछालते थे, कभी प्रभात-समीर के हलके हिंडोले पर झूला करते थे और कभी अन्तर्वीणा के मधुर स्वर में मुक्तगीत गाते थे। उस समय हमारी वज्र-भुजाओं में अखंड पराक्रम भरा था। विकसित मुख-कमल पर अक्षत पराग झलकता था। सरस हृदय से सद्भावों का स्रोत उमड़ता था और बड़े-बड़े नेत्रों में अग्नि-शिखा-प्रज्वलित रहती थी। हम ऐसे खिलाड़ी थे कि हमने इस अनन्त विश्व को ही एक खेलवाड़-सा समझ रखा था। पर कौन जानता था कि यह आकस्मिक प्रवेश हमारे इस आँगन को अपवित्र और कलुषित

कर देगा? तुम हमारा खेल देखने आये थे। अच्छा खेल देखा! आज न यहाँ वह प्राकृतिक छटा है, न वह कल्लोल की स्वाभाविक स्वच्छन्दता। आज हम व्यर्थ का काम करने के लिए इस सर्व-नाशिनी कृत्रिम कर्मण्यता के हल में, कोल्हू के बैल की तरह, जोत दिये गये हैं। आज हमारे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—तीनों ही—विकासों पर कुठाराघात हुआ है। जिस सुविस्तीर्ण विश्व को हम खेलवाड़मात्र समझते थे, आज वह कारागार-सा भयावह देख पड़ता है! इतने पर तुम यह घोषणा करते फिरते हो कि हम तुम्हें स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने आये हैं!

कैसे आ गये हमारे इस उद्यान में? एक दिन यह उद्यान नन्दनवन से होड़ लगाता था। यहाँ की रत्नगर्भा स्वर्णभूमि का उपभोग करने के लिये अमरावती के निवासी भी लालायित रहते थे। सुना है, इस शस्यश्यामला वसुन्धरा पर दूध की नदियाँ बहती थीं। इस सुरम्य उद्यान में बारह मास बसंत रहता था। रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियाँ आदि नटी प्रकृति के अभिनय-कौशल का एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करती थीं। हरित और लहलहे फलित वृक्षों की सघन शीतल छाया ने कितने परिश्रान्त पथिकों का पसीना पोंछ-पोंछ कर उन्हें विश्रान्त-सुख न दिया होगा? शीतल समीर के सुमृदु सरस स्पर्श ने कितनों का आतिथ्य न स्वीकारा होगा? इस उद्यान में कहीं स्वच्छन्द मृग-शावक चौकड़ी भरते थे, तो कहीं छाया

में बैठ कर गो-वत्स तृण ढूँगा करते थे। उन्मत्त विहग-कुल, अलग ही, वृक्षों के सस्नेह अंक पर कूजन और कल्लोल किया करता था। हम लोग भी आनन्दोन्मत्त हो, इस स्वर्गाराम में विचारते हुए, स्वतंत्रता की रागिनी अलापा करते थे। पर यह कौन जानता था कि तुम्हारा यह अनाधिकार प्रवेश इस हरे-भरे उद्यान को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा ? तुम इसमें सैर करने आये थे। अच्छे सैलानी निकले ! जिन रत्नों का हमको भी पता न था, वे भी खोद-खोद कर निकाल लिये गये ! सारा नन्दनवन ऊजड़ हो गया। वृक्षों में एक भी फल न बचा। दुग्ध-परिषिक्त भूमि पर मदिरा का छिड़काव कर दिया गया। जिस स्वार्थ-परता और निर्दयता से इस स्वर्गीय उद्यान का चौपट हुआ है, उसे या तो हम जानते हैं या घट-घटवासी परमात्मा। इतने पर यह बकते फिरते हो कि हम माली बन कर तुम्हारे ऊजड़ बाग की रखवाली करने आये हैं !

कैसे आ गये हमारे राजमहलों में ? ये महल एक दिन महेन्द्र-भवन पर हँसते थे। हम लोगों ने इन खंडहरों में जैसी राजसी भोगी, कोई क्या भोगेगा ? उस काल संसार के समस्त साम्राज्य हमारे उच्छिष्ट माने जाते थे। इन महलों की प्राचीन चित्र-कला आज भी हमारे उन्नत गौरव की सूचना दे रही है। किसी दिन इन टूटे-फूटे कँगूरों से स्वर्गीय सुख आलिङ्गन करने आये थे। लक्ष्मी और सरस्वती की विहारस्थली इसी लीला भूमि पर थी। रणचण्डी के कराल खड्ग ने यहीं अट्टहास

किया था। सूर्य की उज्ज्वल किरणों ने न्याय-विधान को अभिषिक्त कर सब से पहले यहीं प्रतिष्ठित किया था। पर यह कौन जानता था कि यह पाशविक प्रवेश इन राज-महलों की ऐसी दुर्दशा कर डालेगा ? तुम हमारे अतिथि होकर आये थे। अच्छे अतिथि निकले ! हमको निकाल कर स्वयं ही गृहपति बन बैठे ! आज न वह रत्न-सिंहासन ही दिखायी देता है, न वे मणि-मालाएँ ही। मणियों के स्थान पर काँच की किरचें, और सोने-चाँदी के बदले टीन के खिलौने, निस्सन्देह, सजा दिये गये हैं। जहाँ-तहाँ मदिरा के प्याले और माँस की रक़ाबियाँ भी रख दी हैं। इन महलों का तो रूप ही बदल गया। और फिर, हमारा क्या हुआ, हम ही जानते हैं ! कहने को तो हम आज भी इन महलों में रहते हैं, पर किस प्रकार ? क़ैदियों की तरह, और किस प्रकार ? कोष लुट चुका है, शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी है, हृदय विलास-प्रिय बना दिया गया है और आत्मा पर डाल दी गयी है एक काली चादर ! इतने पर यह दावा करते हो कि हम तुम्हें शिष्ट और योग्य बनाने आये हैं।

कैसे आ गये हमारे आराधना-मन्दिर में ? यह मन्दिर एक दिन 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का अधिष्ठान था। ज्ञानोदय सबसे पहले यहीं हुआ था। आराधकों ने अन्तर्नाद द्वारा इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म में यहीं समन्वय स्थापित किया था। स्वच्छ परिमल-वाही पवन ने

यहीं से 'मुक्ति-मन्त्र' ले जाकर विश्व के कान में फूँका था। हम इस मन्दिर के आराधक होने में अपने को परम कृतार्थ समझते थे। पर यह कौन जानता था, कि तुम्हारा अपवित्र पदार्पण इस दिव्य मन्दिर को पैशाचिक कांडों का अड्डा बना देगा ? तुम यहाँ साधक होकर आये थे। अच्छी साधना की ! किसने कहा था कि तुम इस मन्दिर की सफेद दीवारों पर विषय-वासना की कालिमा पोत दो, धर्म-ग्रन्थों को हमारे हाथ से छीन कर रास्ते पर फेंक दो, या हमारी फूलों की डलिया देवता के आगे से हटाकर अपने पैरों से कुचल डालो ? तुम्हारे पदार्पण ने मन्दिर को मदिरालय, श्रद्धा को अन्धता, साधना को कवि-कल्पना, और धर्म को आडम्बर बना डाला। हमारी प्राणाधिक आस्तिकता भी आज चौपट कर दी गयी। आज न हम लोक के रहे, न परलोक के ! इतने पर यह कहने का दुस्साहस करते हो कि हम तुम्हें निर्मल, उदार और धार्मिक बनाने आये हैं !

# निर्दय-विनोद

निर्दयता का भी ठिकाना! अन्याय और अन्धेर का सार्वभौम राज्य! जीवन-संग्राम में बेचारे दीन-दुर्बल ही कुचले जाते हैं। मरे-मिटे ही मारे जाते हैं, रोनेवाले ही रुलाए जाते हैं। इसी निर्दयता का नाम रखा गया है न्याय, सभ्यता और पाण्डित्य! ग़रीब के घर को आग से फूँक कर स्वाहा कर दिया, पड़ौसियों को दो-चार दिन तापना ही नसीब हुआ! धन्य हो निर्दय विनोदियो! सता लो, मार लो, खा लो। तुम्हारे मन में चाव क्यों रह जाय? लो, यह है गर्दन! आधी ही काट कर क्यों रह गये? अध-मरों पर हँस लो। हँसो, हँसो। हँसते-हँसते धड़ से सिर अलग कर दो। फिर हँसो, खिलखिला पड़ो, उसे पैरों से कुचल डालो। सन्तोष न हुआ हो, तो धड़ पर ही निशाने लगाओ। खेल ही सही। आखेट ही हुआ। खाते हुए के गाल पर थप्पड़ जमाओ। प्यासे के मुँह से गिलास छीन कर फेंक दो। रोते हुए के मुँह में कपड़े ठूँस दो। एक यह भी लीला सही। जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता हो, करो। निर्दयता और निरंकुशता ही तो तुम्हें मनुष्यत्व—मनुष्यत्व ही क्यों देवत्व-का प्रमाणपत्र प्रदान करेगी। निर्दयता ही ने तो सारी व्यवस्थाओं, आईनों, सिद्धान्तों और कलाओं के विशाल भवनों की आधार-शिला रखी है।

दैव—निर्दय दैव—भी तुम्हारी सहायता करेगा। निर्दयता ही में उसकी सृष्टि का आदि और अन्त देख पड़ता है। अतएव, लोक और परलोक में सर्वत्र तुम्हारा ही बोलबाला है।

# स्वर्ग में असन्तोष

क्या यही स्वर्ग है ? तब तो छोड़ा ऐसा स्वर्ग ! देवदूत ! मुझे अपने उसी मर्त्यलोक में भेज दे। कर्म-लोक का निवासी काम-लोक की कामना नहीं करता। अरे ! मेरी वह निर्जन कुटिया क्या बुरी है ? मुझे अपनी उसी मड़ैया में सन्तोष है।

मैं समझ रहा था कि स्वर्ग में कर्म की अनवरत धारा बहती होगी, वहाँ के वासी पारस्परिक प्रेम-सूत्र में बँधे होंगे और वहाँ सच्चरित्रता, सद्व्यवहार एवं सहानुभूति का अटल साम्राज्य होगा। सो वे सब बातें यहाँ कहाँ हैं ? यहाँ का रङ्ग-ढङ्ग तो कुछ निराला ही है। यहाँ सब के सब विलास-विभोर, कामोन्मत्त और मदान्ध देख पड़ते हैं। क्या इन अकर्मण्यों को कोई काम नहीं ? अङ्गराग लगाना, माला गूँथना या चित्राङ्कण करना ही क्या इन मुफ़्त-खोरों का इतिकर्तव्य है ? सहकारिता और सहानुभूति तो ये जानते ही नहीं। इनके समान ईर्ष्यालु, लोलुप और स्वार्थी हमारे मर्त्यलोक में नहीं। आस्तिकता का तो इन स्वयंप्रभुओं ने नाम भी न सुना होगा। ये लोग हैं तो दानव, पर कहे जाते हैं देव ! किमाश्चर्यमतः परम् ?

देवदूत ! तेरा देव-दुर्लभ स्वर्ग मुझे लुभा न सकेगा। इन सुरम्य राज-प्रासादों को तो मैं कभी का ठुकरा चुका हूँ। यह उन्मादकारी नन्दनवन मेरे किस काम का ? इन पारिजात-पुष्पों

का पराग-पान करने के लिए मेरे सरस सुकुमार अधर-पल्लव नहीं। यहाँ के परिमलवाही पवन की विलोल लहरों को मैं किन उँगलियों से स्पर्श करूँगा ? इन गजगामिनी प्रमदाओं की ओर तो मैं देखूँगा भी नहीं। इनके कटाक्ष-वाण मेरे नीरस और कठोर हृदय पर टकरा कर खण्ड-खण्ड हो जायँगे। स्वर्गीय सुधा का भी मैं इच्छुक नहीं। चिन्तामणि तो मेरे लिये कानी कौड़ी का भी मूल्य नहीं रखती। मुझे इस स्वर्ग-विहार से नरक-यातना कहीं अधिक अभिवाञ्छनीय है। मैं यहाँ पलमात्र भी नहीं ठहर सकता। यहाँ तुम लोगों के दिन कैसे कटते होंगे !

मैं अपनी जन्म-भूमि का स्मरण कर अधीर हो रहा हूँ। वह ऊजड़ गाँव, वे ऊसर खेत, वह टूटी-फूटी झोपड़ी, वह निर्जन नदी, वह निर्जन वन और वे टेढ़ी-मेढ़ी वन-वीथियाँ आज भी मुझे स्वर्ग से ऊँचा उठा रही हैं। वे सीधे-सादे असभ्य ग्रामीण यहाँ कहाँ मिलेंगे ? यहाँ न वह हल है, न वह खुरपी। न जेठ की लू है, न सावन की मूसलधार वर्षा। न रोना है, न गाना। न रूखी रोटी है, न सूखे चने। वहाँ हम लोग हिम-मिल कर रहते हैं। दूसरे के सुख में सुख और दुख में दुख मानते हैं। अहङ्कार तो हम ग़रीब जानते ही नहीं। हम लोग ईश्वर से बहुत डरते हैं।

यहाँ की वेश-भूषा लेकर मैं क्या करूँगा ? तन पर एक फटा-पुराना चिथड़ा ही हमारा शृङ्गार है और रत्न-जटित

आभूषण है स्वातन्त्र्य। जन्म-भूमि के कङ्कड़ पत्थर ही हमें कुसुम-शैया का काम देते हैं। आम और महुए के आगे कल्प-वृक्ष क्या चीज़ है? मेरे गाँव का एक-एक रज-कण तेरी सहस्र सहस्र चिन्तामणियों से कहीं अधिक मूल्यवान् है।

देवदूत! मैं एक मनुष्य ही रहना चाहता हूँ, देवता नहीं। यहाँ बसने के लिए बहुत-से निठल्ले मिल जायँगे। कृपा कर मुझे उसी दिव्य भूमि पर पटक दे, जहाँ से तू मुझे प्रमत्त बना कर उठा लाया है। अहा!

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

# उद्धार

# अनाड़ी सुधारक

क्या 'सुधार सुधार' चिल्लाता है, सुधारक ? कुछ अपना भी सुधार किया है ? संसार का सुधार करने के पहले कभी इस पर भी विचार किया है कि सुधारक का सुधार कैसे होगा ? न तो तुझे देश-काल-परिस्थित का ही पर्याप्त ज्ञान है और न विवेक एवं शक्ति का ही साक्षात्कार तूने किया है। फिर सुधार करने को क्यों कटिबद्ध हो रहा है ?

तू तो केवल दो-चार बाहरी अधूरी बातों के आधार पर ही सुधार की हलचल मचा रहा है। तू अपने छोटे-से बन्द कमरे के भीतर बैठा हुआ, खिड़की से ही, समस्त ब्रह्माण्ड की छानबीन किया करता है। कभी-कभी तो तू विधि-विधान की भी नुक़्ता-चीनी कर बैठता है ! कपोल-कल्पनाओं की कच्ची नींव पर नवीन विश्व के निर्माण का आयोजन करना तो तेरा सहज व्यापार है। किसी भी घटना पर तू अपने क्षुद्र व्यक्तित्व की छाप लगा देता है। यह नहीं समझता कि इससे सुधार होगा या बिगाड़। यदि तू अपने सुधार के उत्तरदायित्व से परिचित होता तो ईश्वरीय वाटिकाओं के उजाड़ देने की कभी दुश्चेष्टा न करता, विष-लताओं से पारिजात-पुष्प चुनने को खड़ा न हो जाता, अमृत-भरी कटोरियाँ करील की जड़ों में न उड़ेल देता, सौरभित सुमनों की मंजुल मालएँ हाथी के पैरों के तले न कुचल देता, प्रकृति-सुन्दरी के कोमल कलेवर को लोहे के काले कण्टकित

आभूषणों से कलङ्कित न करता, सहज सामाजिक बन्धनों को ढीला करके स्वर्ग-भूमि पर रक्तपात न करता, आराधना-मन्दिरों में धर्म-मूर्तियों पर मदिरा की धारा से अभिषेक न होने देता और न शुक्लवसना सरस्वती को काली-कलूटी साड़ी पहना कर नर्त्तकी की तरह गली-गली नचाता ही फिरता।

सुधारक! सुधार का बीड़ा उठाते हुए क्या तूने कभी जनता के सरल वायुमण्डल में अपनी हृदय-तन्त्री की झीनी झनकार सुनी है? क्या तूने उत्तरदायित्व की दुधारा तलवार पर कभी फूँक-फूँक कर पैर रक्खा है? क्या तूने कभी अपने वर्तमान आन्दोलन के गर्भ में सदसत्-परिणाम की स्पष्ट रेखाएँ भविष्य-पटल पर खचित देखी हैं? यदि नहीं, तो तुझसे कौन कहने गया था, कि तू आकाश के प्रशान्त अन्तःकरण में क्रान्ति की प्रलयङ्करी लहरें उठा दे। सुधार करने के पहले तुझे क्रान्ति और शान्ति के हृदय की धड़कन भी तो देख लेनी चाहिए थी। यदि तुझे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होता तो तू लोक-सत्ता को, नीरोग बनाने के बदले, सन्निपात-जैसी असाध्य व्याधि से निष्प्राण करने की अनधिकार चेष्टा न कर बैठता।

तेरे दुष्कृत्यों के भयङ्कर परिणाम नरक की काली दीवारों पर रक्त से अङ्कित किये गये हैं। दुर्दैव तेरी करतूतों पर खिलखिला कर हँस रहा है। इधर समस्त जन-समाज भी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के अन्धकूप में पड़ा हुआ बिलख-बिलख कर रो रहा है। इन सब अनर्थों का तू क्या उत्तर रखता है, सुधारक?

# अछूत

“अछूत ! अछूत !! ”

“हैं ! अछूत यह है या तुम ?”

“यही काला कलूटा जो सामने खड़ा है। हम लोगों को कौन अछूत कह सकता है ?”

“इसे—इस पद-दलित ग़रीब को—अछूत मान लेने का आदेश तुम्हें किस न्यायाधीश के इजलास से प्राप्त हुआ है ? इस अछूत-आईन की प्रसविनी किस व्यवस्थापक की लेखनी है ? किस निर्णायक ने तुम्हें यह निर्णय दे रखा है ?”

“आदेश ! व्यवस्था ! निर्णय !! तुम्हें यह सब पूछने का क्या अधिकार है ?”

“संभव है, तुमने कभी स्वार्थ-स्वप्न में किसी न्यायाधीश, व्यवस्थापक अथवा निर्णायक की प्रतिच्छाया देखी हो। पर, सावधान ! वह न्यायाधीश नहीं, शैतान का कोई वंचक वकील होगा; व्यवस्थापक नहीं, शान्ति-विच्छेद करनेवाला कोई आततायी होगा; निर्णायक नहीं, अधःपतन का पाँसा फेंकनेवाला कोई चतुर जुआरी होगा। सावधान ! वह न्याया-लय नहीं, माया-मन्दिर होगा; व्यवस्था-भवन नहीं, वंचना-गृह होगा; निर्णय-निकेतन नहीं, गोलमाल का अड्डा होगा।”

“निरे निरक्षर हो, सुधारक ! धर्मशास्त्र के एक भी

सूत्र पर मनन किया होता, तो आज ऐसी ऊँटपटांग बातें न बकते फिरते।"

"सुनो, सुनो। सच बात तो यह है कि क्रिया के साथ ही प्रतिक्रिया की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाया करती है। पर, तुम लोग इस महा-महासूत्र से नितान्त अनभिज्ञ हो। इस व्यावहारिक सिद्धन्त पर तुमने यदि ज़रा भी दिमाग़ ख़र्च किया होता, तो आज विश्व के 'स्वातंत्र्य-सदन' से तुम्हारा और तुम्हारे समाज का बहिष्कार ही क्यों किया जाता। तुम्हीं बताओ, आज मानव-समाज में तुम छूत हो या अछूत? न्यायावतार! समाज के चित्र-पट पर केवल इसे ही क्यों काली रेखाओं से अंकित किया है?"

"क्योंकि यह जन्म से ही घृणास्पद, पतित और अस्पृश्य है। इसके संस्कार पूर्वजन्म से ही नीच हैं। हमारी बराबरी कैसे कर सकता है? इसके स्पर्श से हमारे पैरों की धूल तक अछूत हो जाती है। संसार में यदि कहीं स्वच्छता, उज्ज्वलता और उच्चता है, तो वह हमारे द्विज-समाज में ही है, अन्यत्र नहीं!"

"ढोंग, निरा ढोंग। इसी दंभाचार को क्या स्वच्छता, उज्ज्वलता और उच्चता कहते हैं? अन्तरात्मा के दर्पण में, तनिक, अपना रूप तो देखो; महाराज! कितनी मलिनता है! छिद्रान्वेषण का काजल आँजते-आँजते तुम्हारे ओजस्वी नेत्र निष्प्रभ हो चुके हैं; पर तुम्हें उनके विकृत सौन्दर्य पर,

शायद अब भी, अशेष गर्व है। तुम्हारा मुख-कमल कैसा प्रफुल्लित रहता था ! सहृदयता का वह पराग ही कुछ और था। आज तुम्हारी वह कान्ति कहाँ गयी ? तुम्हारा कांचनवर्ण शरीर अकारण द्वेष से झुलस-सा गया है। यह झुर्रियाँ दूसरों पर व्यर्थ घृणा करते-करते ही पड़ गयी हैं। विचार-संकीर्णता ने ही तुम्हारे शुभ्र और उन्नत अंगों को निर्बल और जर्जरित कर दिया है। भले ही तुम नख से शिख तक दंभ का इत्र पोते रहो, पर चिर दुर्गन्ध की यह विषाक्त लहर, एक न एक दिन, तुम्हारे जीवन के अन्तस्तल में व्याप्त हो कर ही रहेगी। इस मूक अछूत का अमोघ अभिशाप निश्चय ही तुम्हें उच्चता के विमान से च्युत करके रसातल में फेंक देगा।"

"इस नीच पतित का अभिशाप ! तब तो यह विश्वामित्र और दुर्वासा को भी मात कर देगा !"

"संदेह ही क्या ! अस्तु। कुछ भी हो, तुम अपनी पुरानी लकीर पीटते ही जाना। भूल कर भी मिथ्याचारों से मुख न मोड़ना; क्योंकि इन्हीं ढोंगों की बदौलत तो तुम छूत, ऊँच और लब्ध-प्रतिष्ठ बन पाये हो। मूर्ख तो यही अभागा है। इसीसे तो इसका अमल अङ्ग अस्पृश्यता के आभूषणों से अलंकृत किया गया है ! मूढ़ ने व्यर्थ ही कपट के साथ बैर बिसाह लिया। सदाचरण को अकारण ही अपना सुहृद बनाया। कैसा पागल है ! पुरस्कार की उपेक्षा करके दया और

सेवा को योंही युगानुयुगों से अपनाये बैठा है ! तुम्हारी तरह यह शाब्दिक आस्तिक भी तो नहीं। हिसाब-किताब में बिल्कुल ही कोरा है। यही कारण है, कि धर्म-विधानों का ज़बानी जमा खर्च नहीं रख सकता। और अब भी, मनुष्योचित हार्दिक भावों का अपव्यय किया करता है। देवाधिदेव ! तुम्हारे श्रीपाद-पद्म-समीपेषु रहते हुए भी एक कुदज़हन ने सनातन जमाद-व्यापी स्वार्थवाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया ! तभी तो आज तिरस्कृत और पद-दलित-होकर मारा-मारा फिर रहा है।"

"कहते जाओ। सुन रहा हूँ।"

"क्या लाभ ! तुम्हारे आगे यह सारा कथनोपकथन अरण्य रोदन से कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता। हाँ, इस दुर्मति ने व्यर्थ ही पसीना बहा-बहा कर, जीवन भर, सूखी-रूखी रोटियों से अपना पापी पेट भरा। मुफ़्त का माल हड़प जाने की परा विद्या सीख जाता, तो आज इसकी भी तोंद तुम्हारी ही जैसी सचिक्कण, पीन और दिव्य दिखायी देती। धर्म-धुरन्धरता की कलित कला में पारंगत होता, तो आज यह भी, तुम्हारी ही भाँति, सब कुछ करता हुआ भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लेप रहता ! बेचारा निर्बल है, निराश्रय है। तुम्हारे ब्रह्मास्त्र का सामना कैसे कर सकता है ? धर्मशास्त्र तुम्हारा, व्यवस्था तुम्हारी, आचार्यता तुम्हारी और वेदोक्त ईश्वर भी तुम्हारा। जहाँ देखो तहाँ तुम्हारा ही बोलबाला है। इस एकाधिकार से, निस्सन्देह, तुम फूले न समाते होगे। और चाहे जो करो, पर

दया करके समदर्शी ईश्वर के नाम पर तो धाँधली न मचाओ, कृपा-निधान ! वह तुम्हारी बपौती नहीं है। ईश्वरीय विधान और न्याय के तुम्हीं एक मात्र ठेकेदार नहीं हो। न्यायावतार ! आँखें क्यों बंद कर लीं ? क्या सोच रहे हो ?

"धोखा ! धोखा !!"

"कैसा धोखा ?"

अन्तस्तल के स्फटिक-मंदिर में देख रहा हूँ। धोखा ! इन घृणित और पद-दलित अछूतों को परमात्मा कैसे स्नेह से भेंट रहा है ! वास्तव में, वह पतित-पावन है—दुर्बल-बन्धु है। इतने दिनों बाद कहीं आज मेरी आँखें खुलीं !"

"अब तो न कभी इसे अछूत कहोगे ?"

"कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं ।"

# आलोचक

क्या आलोचना करेगा, आलोचक? आलोचना करने का कुछ अधिकार भी रखता है? न्यायाधीश की हैसियत से तो तेरी आलोचना कुछ अधिक मूल्य रखती नहीं। ऐसी आलोचना सिर्फ़ एक फ़ैसला होगी, जो बाह्य उपकरणों से तैयार किया जाता है। उसके आधार में न तो विशुद्ध सत्य ही रहता है, और न निष्कपट सौजन्य और सौहार्द ही। ऐसे यान्त्रिक फ़ैसले को महत्व ही क्या दिया जा सकता है?

आलोचक, अपना मत स्थिर करने के पहले जरा देश-काल-परिस्थिति पर भी तो विचार कर लिया कर। कहाँ, किस समय, किस कारण से और कैसे अमुक वस्तु का निर्माण हुआ है, इसका तुझे तनिक भी ध्यान नहीं रहता। क्या किया जाय, तेरा दृष्टि-कोण ही निर्मल नहीं। जब तक पक्षपात, दुराग्रह और कीर्ति-वाञ्छा का काला और मोटा परदा उस पर पड़ा है, तब तक तेरा मत सत्य और श्रेय से कोसों दूर रहेगा। तब तक तू नीर-क्षीर-विवेकी राजहंस न हो सकेगा।

छिद्रान्वेषण करते समय क्या गुण-प्रदर्शन की ओर भी तेरा ध्यान जाता है? कैसे जाय। हृदय तो अहङ्कार, द्वेष और मान का निवास-स्थान बन रहा है। जोश में आकर जब तू मुँह से आग के गोले उगलने या क़लम से सर्पिणी-जैसी

ज़हरीली लकीरें खींचने लगता है तब वहाँ बेचारे विवेक, साम्य और सद्भाव ठहर ही कैसे सकते हैं? उस समय तो तू-ही-तू रहता है; या तेरी बुद्धि का डेढ़ अंगुल का फीता, जिससे तू तीनों लोकों और तीनों कालों के नाम डालने का दुस्साहस कर बैठता है। क्षणमात्र में तेरी लोक-संहारिणी आलोचनाग्नि प्रज्ज्वलित हो समस्त साहित्य को भस्मसात् कर देती है। वाल्मीकि और व्यास भी तेरा रुद्ररूप देख थर थर काँपने लगते हैं! कभी-कभी तो ग़रीब ईश्वर भी अपने अस्तित्व की खोज में व्याकुल हो जाता है! सामाजिक, नैतिक और धार्मिक पद्धितियाँ तो, तेरी समझ में, कभी की बिदा ले भाग जाती हैं। तेरी दृष्टि में संसार का उत्थान और पतन तेरे शब्दों के संकेत पर ही हुआ करता है। यह सब हुआ, पर दुर्निग्रहा प्रकृति पर तेरे तर्क-ताण्डव का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। युगान्तरकारी कराल काल का कुचक्र तेरी अकाट्य युक्तियों को छिन्न-भिन्न कर विस्मृत-गर्त्त में फेंक देता है।

तेरी आलोचना में असंगति और अत्युक्ति की अतिमात्रा रहती है। अनुमान और कपोल-कल्पना की टेढ़ी-सीधी रेखाएँ खींच-खींचकर तू नित्य नूतन सृष्टि का मानचित्र बनाया करता है। प्रकृति और काल के भाल-पट्ट पर तो बात की बात में हरताल पोत देता है! कभी तू अपने अचूक वाग्बाणों से समाज के सहज बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा करता है और कभी सनातन धार्मिक तत्वों पर भीषण आक्रमण कर

बैठता है। ज्ञात होता है कि तेरे नवीन और अद्भुत आविष्कार ही त्रिलोक के उत्थान एवं पतन के मुख्य द्वार हैं। अपना यश-लोलुप व्यक्तित्व सुरक्षित रखने के लिये स्याह को सफ़ेद और सफ़ेद को स्याह साबित कर देना तो तेरे बायें हाथ का खेल है! अपनी ना-समझी को औरों के मत्थे मढ़ देना भी तेरा एक बाल-विनोद है। अतएव पाहि माम्! पाहि माम्, दुराग्रह-वाहन आलोचक देव!!

दूसरों की आलोचना करने के पहले स्वयं अपनी भी तो आलोचना कर लिया कर। दिल की सफ़ाई कर के दुनिया का कूड़ा-करकट साफ़ कर। ख़ुदी को खोकर बे ख़ुदी में मस्त हो। आँख पर से एकतरफ़ी चश्मा हटा कर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर। आलोचक! जब तेरा प्रत्येक शब्द विवेक के गहरे रङ्ग में डूबा निकलेगा, तभी तू सच्ची आलोचना करने का अधिकारी हो सकेगा।

# अनाथालय

कभी अनाथालय में भी सैर करने गया है, सैलानी ? न गया होगा। वहाँ दिल बहलाने को रखा ही क्या है? रसिकों की रसीली आँखें उस नीरस स्थान से कोसों दूर भागती हैं।

अनाथालय का रोमांचकारी दृश्य सचमुच ही रँगीले-रसीले नेत्रों का आतिथ्य नहीं कर सकता। उस उजड़े हुए कोने में मनमौजी सैलानी के मन की एक भी चीज़ नहीं। जहाँ-तहाँ टूटी-फूटी झोपड़ियाँ मिलेंगी, जिनमें डरावने अस्थि-कंकाल पड़े हैं। भूख के मारे उनके पेट पीठ से जा लगे हैं। आँखें बैठ गयी हैं। ओठ सूख गये हैं। गले से आवाज़ तक नहीं निकलती। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। किसी के तनपर एकाध फटा-पुराना चिथड़ा पड़ा है, तो कोई बिल्कुल नंग-धुड़ंग ही गरमी-जाड़े से मर रहा है। दुधमुँहें बालकों को दो घूँट भी दूध नसीब नहीं! सैकड़ों अछूते लाल असमय ही काल के गाल में जा रहे हैं। लाखों अनाथ कँगले बिना रोटी के तड़प-तड़प कर प्राण-विसर्जन कर रहे हैं। चारों ओर चीत्कार-ही-चीत्कार सुनायी देता है।

उन प्राणावशेष अस्थिकंकालों के स्वर्ण-प्रासाद लुट गये हैं। उनके मुँह का कौर छिन चुका है। उनके गुलाब-जैसे मुखड़ों की लाली फीकी हो गयी है। अब, उनकी जर्ज्जरित हड्डियों पर कड़ी नज़र रखी जाती है। उन बेचारे दीन-

दुखियों के निर्बल हाथ-पैर ख़ूब कस कर बँधे हैं। हिलना-डुलना तो दूर रहा, अभागे चीं भी नहीं कर सकते, क्योंकि उनके मुँह पर ताले लगा दिये गये हैं! यह सब किस लिए? इसलिए कि वे अपनी पूर्व-कथा का स्मरण तक न कर सकें, अपना दुखड़ा किसी सहृदय के आगे न रो सकें, अपने को 'जीवित मनुष्य' कहना भी भूल जायँ।

यह है अनाथालय की एक झलक। क्या तू वहाँ घूमने जायगा? पूछना व्यर्थ है। तेरा मन-मराल उस क्षार-समुद्र में कैसे रम सकता है! उसके रमने के सरोवर तो और ही हैं। तेरी लावण्यप्रिय आँख तो उन सुसज्जित प्रासादों पर जाती है, जहाँ संगमरमर के सफ़ेद फ़र्श पर तेरे नाज़ुक पैर फिसला करते हैं, जहाँ ख़सख़ानों की महक से तेरा दिल और दिमाग़ तर और मस्त हो जाता है, जहाँ कोकिल-कंठियों की मधुर स्वरावली तेरे प्रकंपित हृदय पर थिरका करती है, जहाँ चन्द्र-मुखियों के नयन-बाणों से तेरा उन्मत्त मन-मृग बिंध जाता है, या जहाँ तू शराब के चटकीले रङ्ग से अपना नापाक दामन रँगा करता है। तेरा चञ्चल चित्त-चञ्चरीक तो उन्हीं उद्यानों पर मँडराया करता है, जहाँ उन्मादिनी मल्लिका-वल्लरी के पल्लव-करों का तुझे कोमल स्पर्श मिलता है, जहाँ रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियाँ तुझे मुग्धकारी समीर के हिंडोले पर झुलाया करती हैं, जहाँ सुगन्धित फ़ौवारों के ठण्डे छींटे तेरी अधमुँदी मतवाली आँखों में एक निराली ही मस्ती भर देते हैं। ऐसा

देव-दुर्लभ स्वर्ग भला किससे छोड़ा जायगा ? अनाथालय देखने जाय तेरी बला !

' न देख। तेरा न देखना ही अच्छा है। तेरे जैसे मदान्धों के देखने से होगा ही क्या ? उन अनाथों का देखनेवाला तो एक अनाथबन्धु परमात्मा है। वही उनकी आह का ठीक-ठीक मूल्य आँक सकता है। उसके करुणारस-पूरित नेत्रों में उनका आर्द्र चित्र अंकित है। एक-न-एक दिन वह अवश्य ही उस अनाथालय की सुध लेगा उन अनाथों को अपने अशरण-शरण अंक में स्थान देकर कृतार्थ करेगा।

# दुराग्रह

जाने दो, जाने दो। क्यों रोकते हो? तुम्हारे सहवास को भला वह पसन्द करेगा? क्या कहा, कि उसे एक आसमुद्रान्त साम्राज्य का युवराज बनायेंगे? न, वह एक रङ्क-कुमार ही अच्छा है।

दुर्भाग्य उसका, जो आज तुम्हारी मदान्ध मण्डली में आ फँसा। बेचारा कैसा स्वच्छ और सरल है! चेहरे पर क्या ही भोलापन है! नेत्र चञ्चल, किन्तु विकारहीन हैं। उसकी सहज दृष्टि की कमल-पत्र पर थिरकती हुए ओस-विन्दु से उपमा दें या दूध के प्याले में तैरती हुई मछली की विलोल गति से? मादकता-मिश्रित सरलता तो मानो आँखों से छलकी ही पड़ती है। ओठों पर अब भी बाल-स्मिति की एक अरुण रेखा उदित हो रही है। उसका स्वाभाविक सौन्दर्य अनावृत कलियों का स्मरण दिला रहा है। उसे सुविस्तीर्ण गगन में स्वछन्द विचरनेवाला स्वर्ण-पक्षी कहें तो क्या आप कवि कल्पना समझेंगे? ऐसे निर्बोध निरपराध बच्चों को अपने माया-जाल में फँसा कर तुम कौनसा उद्देश सिद्ध कर लोगे?

तुम्हीं सोचो, वह अबोध बालक तुम्हारा घृणास्पद-सहवास क्यों पसन्द करेगा। तुम्हारा विलास-विनोद देख कर बेचारा घबरा-सा गया है। तुम्हारे निर्जीव जीवन में हमें तो

एकमात्र मृत्यु-सहोदरी विलासिता का ही साम्राज्य देख पड़ता है। तुम्हारे सारे रहन-सहन पर उद्दाम वासनाओं ने विकार की छाप लगा दी है। लोक-लज्जा को तिलाञ्जलि दिये तो तुम्हें एक युग बीत गया। कर्तव्य का तो शायद् नाम भी भूल गये होगे। तुम्हारा लक्ष्य तो आज काम-काञ्चन पर है। तुम्हारे निष्प्रभ नेत्रों में विकारिता, निस्पन्द हृदय में विलासिता और निष्प्राण शरीर में अकर्मण्यता ने अड्डा जमा रखा है। सहस्रों निर्बोध जनों को लक्ष्य-भ्रष्ट करके भी क्या तुम्हारी प्रलय-पिपासा शान्त नहीं हुई ? तुम्हारी नरक-यात्रा का साथ देने के लिये क्या यह मण्डली काफ़ी नहीं ?

बस करो। अब मत रोको। नहीं रहना चाहता है, तो क्यों दबाव डालते हो ? उसे कनक-कारागृह में क़ैद करके तुम्हें कौन-सा स्वर्गीय सुख प्राप्त हो जायगा ? कुछ भी करो, स्वतन्त्र कुटीर-वासी एक सरल बालक तुम्हारे माया-मन्दिर में बन्दी हो कर नहीं रहना चाहता।

ठहर जाओ। दुराग्रह मत करो। मुँह से नहीं लगाना चाहता, तो क्यों दबाव डालते हो ? इसे प्याले में भरा हुआ लाल-लाल ज़हर पिला कर तुम्हें कौन-सा स्वर्गीय सुख प्राप्त हो जायगा ? कुछ भी करो, वह अपने पवित्र ओंठों की स्वाभाविक लालिमा इस फेनिल पेय से रँग कर विकृत और कलुषित नहीं करना चाहता।

बहुत हुआ। हठ मत करो। नहीं पहनना चाहता, तो

क्यों दबाव डालते हो ? उसके गले में मणि-युक्त सुनहरा साँप डालकर तुम्हें कौन-सा स्वर्गीय सुख प्राप्त हो जायगा ? कुछ भी करो, वह अपने पुष्प-माल-भूषित कण्ठ को तुम्हारे इस रत्न-जटित स्वर्ण-हार से अलंकृत नहीं करना चाहता।

कितना ही प्रलोभन दो, वह तुम्हारे नारकीय समाज का सदस्य होना स्वीकार नहीं करेगा। तुम्हारी समस्त मोहिनी कला को वह अन्त तक उपेक्षा की ही दृष्टि से देखेगा। तुम्हारे समाज का विषाक्त वातावरण उस निर्दोष पवित्रात्मा को मृत्यु-यन्त्रणा दे रहा है। इस क्षण वह पक्षहीन पक्षी नहीं तो क्या है ? उसकी छटपटाहट देख कर, तुम्हें क्या तनिक भी दया नहीं आती ?

कोई चिन्ता नहीं। ईश्वर-कृपा से वह विहग तो तुम्हारे निर्दय हाथों से छूट कर उड़ ही जायगा; पर, स्मरण रखना, उसके मूक अभिशाप से तुम्हारा त्राण नहीं। सावधान !!

# कृत-कथाम्र

आश्चर्य ! तू सारा उपकार भुला बैठा ! जरा, उन दिनों का स्मरण तो कर। अगाध, अपार और उन्मत्त सागर के अंक पर कैसी बीती थी ! उस रात लहरों के साथ विनोद करती हुई तेरी नौका इठलाती जा रही थी। पूर्ण चन्द्रमा की ओर देख-देख तू कभी तो राग अलापता था और कभी वंशी बजाता था। मल्लाह भी मद्यपान कर मत्त हो रहे थे। बड़ा आनन्द था, बड़ा उल्लास था। एकाएक तूफ़ान आ गया। काली घटाएँ भी घिर आयीं। सागर के सहस्रों हाथ आकाश की ओर उठने लगे। उतङ्ग तरङ्गों का ताण्डव प्रलयकारी-सा प्रतीत होने लगा। नौका उस उथल-पुथल में डगमगाने लगी। मल्लाहों ने धीरज छोड़ दिया। थोड़ी देर में बेचारों के हाथ से डाँड़ भी छूट गये। हाहाकार मच गया। प्राणों पर आ पड़ी। लो, पाल भी उलट गया। नौका डूबी ! आततायी तूफ़ान में, समुद्र के भीषण अङ्क पर, उस रात रोते-चिल्लाते हाथ-पैर फटफटाते हुए तुम सब कहाँ से कहाँ पहुंचे, ईश्वर ही जानता है ! तुझे सागर-संकट से किसने बचाकर इस देव-दुर्लभ प्रासाद में प्रतिष्ठित किया था, कुछ स्मरण है ? तेरा परित्राण करनेवाला तेरे सम्मुख कब से खड़ा है ? पर, तू ने उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं ! तेरे समान संसार में क्या और भी कोई कृतघ्न होगा ?

जरा, उन दिनों का स्मरण तो कर। तू उस नगर में कभी

बड़े राजसी ठाट से रहता था। दिनरात तेरा भोग-विलास में ही बीतता था। गाना-बजाना और हँसना-खेलना ही तेरा एक-मात्र कर्त्तव्य था। शान्ति और क्रान्ति को तू एक-सा समझता था। मदविह्वला इन्दुमुखियों के दृग्वाणों से छिन्न-भिन्न होना तेरे लिए स्वर्गाधिक सुख था। मदिरा में मुक्ति थी और चौसर में चारों फल ! खूब मौज थी, खूब उन्माद था! पर यह जीवन चर्य्या बहुत दिन न चल सकी। सितारा डूबने लगा ! देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। लोग 'भूख-भूख' चिल्लाने लगे। हाहाकार मच गया। मनुष्य,मनुष्य को खाने लगा। तेरी भी समस्त सम्पत्ति 'उदरार्पणमस्तु' हो गयी। वीणा और मृदंगों का खरीदनेवाला कोई न मिला। मदिरा के प्यालों और चौसर के पाँसों को भला कौन पूछता। हंसगामिनी मृग-नयनियों के मद-विभोर हाव-भाव पेट की ज्वाला में झुलस कर, न जाने, क्या हुए ! इतने में अग्निदेव ने तेरे भव्य भवनों पर अपनी आरक्त पताका फहरा दी। बचा-खुचा सामान भी सब स्वाहा हो गया। सच है, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ! अस्तु, घर के लोग तुझे अकेला ही छोड़ इधर-उधर तीन-तेरह हो गये। तीन दिन तक तेरे मुँह में अन्न का एक दाना भी न गया। चौथे दिन कहीं सन्ध्या को किसी ने रोटी का एक टुकड़ा तेरे मुँह में डाला था। स्मरण है न ? उसके बाद क्या हुआ, परमात्मा ही जानता है। तुझे दुर्भिक्ष-यातना से बचाकर इस देव-दुर्लभ प्रासाद में किसने प्रतिष्ठित किया

था, कुछ स्मरण है ? तेरा परित्राता तेरे सामने कब से खड़ा है ! तूने उसे पहचाना तक नहीं ! उलटे उसकी ओर से अपनी आँख हटा ली ! तेरे समान संसार में क्या और भी कोई कृतघ्न होगा ?

जरा, उन दिनों का स्मरण तो कर। बात बड़ी पुरानी है। तो भी स्मरण करने से वह चित्र ज्यों का त्यों आँखों में उतर आयगा। तेरे माता-पिता बचपन में ही तुझे छोड़ स्वर्ग सिधार गये थे। तेरा लालन-पालन एक निर्जन आश्रम में हुआ था। वहाँ एक देवालय भी था। याद है न ? मृग-शावकों के साथ तू खेलता और कन्दमूल एवं फल खाता था। आश्रम का तपोधन अधिपति तुझे ख़ूब प्यार करता था। अधिक क्या, वह तुझे पलकों पर सुलाता था। तू भी उसे अपना 'सर्वस्व' जानता था। दोनों में ख़ूब पारस्परिक प्रेम था। उन दिनों वह आश्रम तेरे लिए स्वर्ग से भी अधिक आनन्दप्रद था। वृद्ध महात्मा ने तुझे, अपने बुढ़ापे का सहारा या अंधे की लकड़ी समझ, आश्रम की समस्त सम्पत्ति सौंप दी। गूढ़ से गूढ़ विद्याएँ भी ब्रह्मर्षि ने तुझे अनायास ही अवगत करा दीं। तेरी उच्चता और सत्पात्रता पर उसे लेशमात्र भी संदेह न था। पर, भविष्य कौन जानता है ? तू 'पयोमुख विष-कुम्भ' निकला ! वृद्ध ऋषि को तू ने एक दिन रस्सियों से बाँध दिया, और आश्रम का सर्वस्व-हरण कर वहाँ से चंपत हो गया। उस देव-निर्माल्य सम्पत्ति का तू ने जिस प्रकार दुरुप-

योग किया, परमात्मा ही जानता है। तुझे पाप-पंक से
कर किसने देवदुर्लभ पद पर आसीन किया था, कुछ
है ? तेरा वही वृद्ध अभिभावक, देख, कब से तेरे सामने
है ! तू सब कुछ जानता हुआ भी अनजान-सा बन
उसका परिचय चाहता है ! दु:शील ! तेरे समान संसार
और भी कोई कृतघ्न होगा ?